सांस्कृतिक कहानियाँ
भाग ४
सुदर्शनसिंह

सांस्कृतिक कहानियाँ
(भाग ४)

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

प्राप्ति-स्थान—
प्रकाशन विभाग
श्रीकृष्ण - जन्मस्थान - सेवासंघ
मथुरा-२८१००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
प्रकाशन-तिथि	विजयादशमी, वि० सं० २०३४ २१ अक्टूबर, १९७७
प्रथम संस्करण	५००० प्रतियाँ
मुद्रक	रावा प्रेस, गान्धीनगर, दिल्ली-११००३१

SANSKRITIK KAHANIYAN — Part IV

—Sudarshan Singh 'Chakra'

मूल्य—दो रुपया मात्र

अनुक्रमणिका

सहज त्याग

'भगवान् अमरनाथके दर्शन होंगे।' श्रद्धा भरी थी स्वरमें। 'जो हम संसारके कर्म-कल्मषग्रस्त प्राणियोंको शुद्ध सत्त्वके सेवनका संदेश देनेके लिए सृष्टिकी आदिसे गिरिगह्वरमें उज्ज्वल हिमलिङ्गके रूपमें आसीन हैं, उन आशुतोषके अर्चनका हमें सौभाग्य प्राप्त होगा।'

'वह वहाँ महामाया वैष्णवीदेवीके पादपद्मोंमें प्रणत हो सकेंगे।' शक्तिके आराधकके लिए कम आकर्षण कहाँ है कश्मीरमण्डलमें। 'वे जगद्धात्री द्वापरान्तसे वहाँ तपस्या कर रही हैं। श्रीमूर्ति जो चर्मचक्षुओंको दृष्टिगत होती है, माया है वह तो उनकी। वे साक्षात् तपोनिरत हैं। कल्किके रूपमें युगान्तमें अवतीर्ण होनेवाले अपने नित्य आराध्यकी प्रतीक्षा कर रही हैं वे वहाँ।'

'सबसे महान् सौभाग्य हमारा कि भगवती हंसवाहिनीके वरद पुत्रका साक्षात्कार करेंगे।' सबमें वयोवृद्ध विद्वान् बोल रहे थे। 'श्रुतियोंके उन सचल स्वरूपका क्षणसांनिध्य भी प्राप्त करना कितना महान् पुण्योदय है!'

प्रयागके प्रतिष्ठित पण्डितोंका समुदाय एकत्र था, वहाँ उस दिन। जहाँ विद्वान् एकत्र होंगे, वहाँ विद्या, विद्वान् एवं शास्त्रोंकी चर्चा होगी ही। उस दिन एकने अकस्मात् कह दिया—'हम जिनके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे पण्डितराज कल्लट कैसे होंगे ?'

आजका युग नहीं था। पुस्तकें छपती नहीं थीं। पत्रोंमें उनकी समालोचना नहीं निकलती थी। उनके प्रचारका साधन उनकी श्रेष्ठता ही थी। उन्हें इतना उत्कृष्ट होना चाहिए कि जो एक बार उनके पृष्ठ उलटे, वह इतना समुत्सुक हो उठे कि कई मास उनकी प्रतिलिपि करनेमें होनेवाला श्रम उसे सहज स्वीकृत हो जाय। इस प्रकार प्रतिलिपि-परम्परासे ही उनका प्रचार-प्रसार सम्भव था।

आप अनुमान कीजिये, सुदूर कश्मीरकी किसी एकान्त कुटियामें ग्रन्थ प्रणयन करनेवाले महापुरुषकी अपूर्व शक्तिका। उसके जीवनकालमें ही उसके ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ प्रयाग एवं काशीतक पहुँच गयी थीं और इन संस्कृत विद्याके महान् केन्द्रोंमें देशके सम्मानित विद्वान् उन प्रतिलिपियोंका आदर करते थे। वे अपने अध्यापनमें उनसे सहायता पाते थे।

ऐसे महत्तमके दर्शनकी उत्कण्ठा होना आश्चर्यकी बात तो थी नहीं। परन्तु उन दिनों यात्राके लिए केवल अपने पैरोंका आश्रय था। यात्राका सङ्कल्प सरल नहीं था। प्रयागसे कश्मीर—आज भी दूरी उतनी ही है। आप आज पैदल यात्राका एक बार अनुमान लगा देखें।

भूलें नहीं कि उस समय आजके समान स्वच्छ प्रदेश एवं उत्तम सड़कें भी नहीं थीं। देश घोर अरण्योंसे व्याप्त था।

ब्राह्मणोंके लिए यात्रामें बहुत सुविधा थी। वनके बर्बर लोग, दस्यु भी अपना सौभाग्य समझते थे उनकी सेवा करनेमें। ब्राह्मणका शाप सह लेनेका साहस क्रूरकर्मियोंमें भी नहीं था। तपस्वी, त्यागी था ब्राह्मण और जब उसमें ब्रह्मतेज विद्यमान है, वन्यपशु भी उसके चरणोंमें मस्तक ही झुका सकता है।

'केसर और कवित्वकी जन्मभूमि कश्मीरमण्डल है!' आज विद्धद्वर्गके कुछ सम्मान्य सदस्य समुत्सुक हो उठे थे यात्राके लिए—'कश्मीरके महाराज विद्वानोंके आराधक कहे जाते हैं। उनकी श्रद्धाको स्वीकृति देना अनुचित नहीं होगा।'

'अनुपम तीर्थ-यात्रा है! सभी दृष्टियोंसे सर्वश्रेष्ठ!' एक तरुण विद्वान् उल्लासमें आये। 'भूस्वर्ग कश्मीरकी सुषमा सरस हृदयको सदा आकृष्ट करती है। ऊपरसे अमरनाथकी यात्रा और महापण्डित कल्लटका साक्षात्कार। भारतके सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण नरपालका आतिथ्य यात्रा-श्रमको दूर करनेके लिए वहाँ प्रथम उपस्थित मिलता है।'

× × ×

'प्रयागके प्रतिष्ठित विद्वान् पधार रहे हैं!' महाराजको बहुत पूर्व समाचार प्राप्त हो गया अपने सदा सावधान चरोंके द्वारा और उनका आदेश देशकी सीमातकके

शासक अधिकारियोंके पास चला गया—'दीर्घकालकी कठिन यात्रासे वे सभी श्रद्धेय क्लान्त होंगे। हमें धन्य करने वे पधार रहे हैं। उनकी सुख-सुविधाकी व्यवस्थामें होनेवाला प्रमाद क्षम्य नहीं होगा। उनकी रुचिका हमें सम्मान करना है। उनकी इच्छा ही हमारे लिए आज्ञा है।'

सन्तोष नहीं हुआ महाराजको अपने प्रबन्धसे। उन्होंने स्वयं यात्रा की। सम्मान्य अतिथि किसी सङ्कोचमें न पड़ें, इस उद्देश्यसे साक्षात् सम्मुख उपस्थित होनेका साहस नहीं किया उन्होंने। 'राजशिविर साथ-साथ चले तो उन त्याग-मूर्तियोंको असुविधा होगी!' नरेशने व्यवस्था इस प्रकार की कि वे अतिथियोंके आगमनसे पूर्व प्रस्थान कर दिया करेंगे एक पड़ाव आगे। इस प्रकार प्रथम पहुँचकर सब व्यवस्थाका स्वयं निरीक्षण कर लिया करेंगे वे।

'वे विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, तप एवं तेजके स्वरूप हैं!' महाराज सतत सावधान थे। 'कहीं वे रुष्ट न हो जायँ! उनके संयम, अर्चन एवं आह्निकमें कोई व्याघात न पड़े।'

ब्राह्मणोंको यह बतानेकी भी अनुमति नहीं थी सेवकोंको कि उनका सत्कार स्वयं कश्मीरके अधिपति कर रहे हैं। उन विद्वानोंके लिए यह अनुमान कर लेना कठिन नहीं होगा, यह दूसरी बात।

यात्रामें कष्ट तो होता ही है। एक योजनसे अधिक न चलनेवाले इन विप्रोंकी यात्रा! त्रिकाल स्नान-सन्ध्या, विस्तृत नित्यकर्म एवं पूजन—कैसे सम्भव है कि यह सब करते हुए कोई एक योजनसे अधिककी यात्रा एक दिन

कर ले ! मार्गमें उन्हें चातुर्मास्य भी तो करने पड़े। प्रयागसे प्रस्थानके दिन उस समयका यात्री गिनने बैठ नहीं सकता था।

उन तेजोमूर्तियोंको कहीं प्रतिकूलता प्राप्त नहीं हुई। देवता और दस्यु दोनों उनकी सेवा करके अपनेको भाग्यशाली मान सकते थे। उनसे सदा आग्रह ही किया मार्गमें पड़नेवाले नगरों एवं अरण्यके वासियोंने—'आप सब एक दिन और रुककर हमें पवित्र करते।'

निर्जन अरण्य भी आये—कुछ अर्थ नहीं था। उनकी सेवाका सौभाग्य वहाँ अधिक प्राप्त होगा, इस प्रलोभनसे अनेक सुदूर ग्रामोंके सरल प्राणी पहले पहुँच जाया करते थे। अरणि-मन्थन करके अग्नि प्रकट करना पड़ता था केवल यज्ञके लिए और वारुण-मन्त्रोंका कभी प्रयोजन नहीं पड़ा। जलका अभाव सम्मुख आया नहीं। तपस्वी ब्राह्मणोंका वृन्द जब यात्रा करता हो, प्रकृति सत्त्व-परीक्षणकी धृष्टता नहीं कर सकती।

× × ×

'अतिथि महापण्डितके दर्शन करने पधारेंगे सर्वप्रथम !' महाराजको इसकी आशा पहलेसे थी। व्यवस्था उसके अनुरूप करनेमें कोई कठिनाई नहीं थी; किंतु महापण्डितके आश्रमपर तो कोई व्यवस्था की नहीं जा सकती।

'भद्रे ! अतिथि पधारे हैं ! अर्घ्य !' महापण्डित अपनी लेखनी छोड़कर बड़ी आतुरतापूर्वक उठे थे। उन्होंने

आज पता नहीं कितने वर्षोंके पश्चात् पत्नीको उच्चस्वरमें पुकारा था।

गौरवर्ण, कृशकाय, उन्नतभाल, रजतश्मश्रु—जैसे कोई जनलोकका ऋषि धरापर उतर आया हो। शिलापर एक जीर्ण कुशासन पड़ा था और आस-पास भूर्जपत्र बिखरे पड़े थे।

मृत्पात्रमें अर्घ्यके लिए जल लेकर जब महापण्डितकी सहधर्मिणी उटजसे बाहर आयीं—सत्ययुगकी कोई ऋषि-पत्नी अवश्य ऐसी ही होंगी।

'हम आपके दर्शनार्थ आये हैं। साक्षात् न सही—आपके वाङ्मयके शिष्य हैं हम!' आगतोंने श्रद्धासमन्वित प्रणिपात किया। पण्डितराज उन्हें साष्टाङ्ग अभिवादन कर रहे हैं—यह अत्यन्त सङ्कोचकी बात थी।

'आज मैं धन्य हुआ! आप ब्राह्मण-अतिथियोंके श्रीचरण यहाँ आये! मेरा गार्हस्थ्य सार्थक हुआ।' महापण्डितके नेत्रोंसे बिन्दु नहीं टपकते थे—धारा चल रही थी। 'आप सत्त्वमूर्तियोंमें यह शील, विनम्रता, श्रद्धा स्वाभाविक है; किंतु आतिथ्य मेरा अधिकार है। मैं आपको सङ्कोचमें नहीं डालूंगा। आप सब जैसे संतुष्ट हों।'

महापण्डितने स्वयं चरण-प्रक्षालनका आग्रह नहीं किया। उन्होंने देख लिया कि अतिथि इससे सङ्कोच पा रहे हैं। जल देकर उन्होंने चरण धुलाये। शिलापर चटाई बिछा दी। तपस्वीके आश्रमका आतिथ्य उसके उपयुक्त ही तो होगा।

'आपकी सत्कीर्ति हमें ले आयी है।' आगतोंने अपना परिचय दिया। 'हम धन्य हुए इन चरणोंके दर्शन करके।'

लोकोत्तर विद्वानोंका मिलन हुआ था। उनकी विनम्रता अपूर्व थी। 'विद्या ददाति विनयम्' यह प्रत्यक्ष हो गया उस दिन वहाँ।

'अतिसांनिध्यादनादरम्।' तनिक एकान्त पाकर प्रयागके एक पण्डितने अपने सहचरोंसे धीरेसे कहा— 'यहाँका नरेश ऐसे अमूल्य रत्नका भी आदर नहीं कर सका।'

'यह जीर्ण कुटीर! यह कङ्गाली और सरस्वतीके ऐसे वरद पुत्रके पास!' व्यथा सबके चित्तको पीड़ित कर रही थी। 'हम कल उसे धिक्कारेंगे। वह अपने परमपूज्य-का उचित पालन भी कर नहीं सकता—कितना अधम है यहाँका नरपाल!'

× × ×

'मैं आप सबकी आज्ञा शिरोधार्य करनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझता हूँ।' महाराजने बड़ी ही नम्रतापूर्वक निवेदन किया। 'किंतु महापण्डितके सम्मुख इसे उपस्थित करनेका साहस मुझमें नहीं है। आप इसे उनतक पहुँचा देनेकी कृपा करें और वे यदि रुष्ट हों तो आप सब उन्हें शान्त कर लेंगे, यह आश्वासन मुझे दें!'

'आप भय न करें!' विद्वानोंने आश्वासन दिया। 'हम यह दानपत्र स्वयं महापण्डितको अर्पित कर देंगे।'

'हम इतना ही चाहते हैं कि यह कश्मीरभूमि उनके श्रीचरणोंसे धन्य बनी रहे !' दानपत्र प्रयागके पण्डितोंको अर्पित करते हुए महाराजके कर कम्पित हो रहे थे। 'आपके आश्वासनका मुझे अवलम्बन है। वही हमारा आधार है।'

प्रयागके विद्वान् राजसभामें पधारे थे। महाराजने उनका श्रद्धा-समन्वित स्वागत किया था, उन्हें वस्त्राभरण एवं विपुल दान-दक्षिणा प्रदान की थी; किंतु उन विद्वान् ब्राह्मणोंने नरेशके सम्मानके प्रति आस्था नहीं व्यक्त की। वे भारतीके भव्य पुत्र—उन्हें भय किसका ! उन्होंने स्पष्ट सुना दिया—'नरेश ! तू हमें इस कञ्चनसे ठगना चाहता है ? तू चाहता है कि इसे लेकर हम तेरा स्तवन करें, तेरी कीर्तिका प्रस्तार करें ? कृपण ! तेरे यहाँ अमूल्य रत्न है और तूने उसको दो मुट्ठी अन्न देनेकी व्यवस्था भी नहीं की। भारतका सर्वश्रेष्ठ विद्वान् तेरे यहाँ जीर्ण तृणकुटीरमें कच्चे फलोंपर जीवनयापन करनेको विवश है !'

'आप सब सत्य कहते हैं।' नरेशके नेत्रोंमें अश्रु आ गये। 'किंतु महापण्डित कुछ स्वीकार करेंगे, इसकी सम्भावना कहाँ......।'

'तूने प्रयत्न किया कभी ?' विद्वानोंका रोष शान्त नहीं हुआ था। अन्ततः उनका आदेश महाराजने डरते-डरते स्वीकार किया। एक उत्तम जागीरका दानपत्र लिखवाया उन्होंने और राजमुद्रासे उसे अङ्कित करके उन पण्डितोंको अर्पित कर दिया।

'क्या प्रश्न है ? वैसे ही सुना दें आप सब !' वह दानपत्र लेकर जब विद्वानोंका समुदाय महापण्डितके आश्रममें पहुँचा और उनके चरणोंके समीप उन्होंने वह दानपत्र धर दिया, तब महापण्डितने समझा कि कोई लिखित शङ्का इन विद्वानोंने उनके सम्मुख रखी है।

'कोई प्रश्न नहीं।' नम्रतापूर्वक ब्राह्मणोंने कहा। 'नरेशने निर्वाह-योग्य भूमि श्रीचरणोंमें अर्पित की है, उसका यह दानपत्र है।'

'इतना साहस आ गया उसमें ! अब वह इतना गर्विष्ठ हो गया कि कल्लटको दान देने लगा है ?' महापण्डित झटकेसे उठ खड़े हुए। दानपत्र शिलासे नीचे गिर पड़ा। उन्होंने चटाई गोल करके बगलमें दबा ली और कमण्डलु उठाया। पत्नीको आदेश दिया—'भद्रे ! यह भूमि अब ब्राह्मणके रहने योग्य नहीं रही। इसके शासकमें धनमद आ गया। चलो, चलें यहाँसे।'

पतिव्रताको लेना क्या था, उटजमें उसकी गृहस्थी कितनी थी। उसने अपना जीर्ण उत्तरीय मस्तकपर डाला और द्वारसे बाहर आ खड़ी हुई।

'मुझे क्षमा कर दें ! यह अपराध मैंने स्वतः नहीं किया है।' कश्मीरनरेश वृक्षोंके पीछेसे निकले और चरणोंपर गिर पड़े।

'यह अपराध हमारा है। हमने महाराजसे अनुरोध किया था।' विद्वानोंने करबद्ध प्रार्थना की।

'आप सब तो अतिथि हैं !' महापण्डित शान्त हो गये। उन्होंने संकेत किया पत्नीको कुटियामें चले जानेका। चटाई शिलापर बिछा दी। कमण्डलु धर दिया। दानपत्र उठाकर फाड़ते हुए नरेशसे बोले—'जब ब्राह्मण आगे हों, क्षत्रिय क्षम्य हो जाता है। अब जा ! फिर आश्रममें मत आना।'

'ब्राह्मणका—मनुष्यमात्रका आराध्य धन है धर्म !' महापण्डितके आसनकी शिलाके आस-पास दानपत्रके टुकड़े वायुमें उड़ रहे थे। वे महामानव प्रयागसे पधारे पण्डितोंको बता रहे थे। 'जिसके पास वह धर्मरूपी धन है, क्या करेगा वह इस स्वर्ग-भूमि आदिका ; ये तो कङ्गालोंकी कौड़ियाँ हैं उसके सम्मुख !'
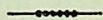
धर्मात्मा

[१]

बड़ी भारी कोठी है। ऊँची चहारदीवारीसे घिरी हुई कोठीके चारों ओर सुन्दर वाटिका है। छोटा-सा राजभवन कहें तो भी कोई हानि नहीं। कोठीसे सटकर चहारदीवारीके बाहर एक फूसकी पुरानी झोंपड़ी है। फूसकी टट्टियोंसे घिरी अनेक स्थानोंसे टूटी झोंपड़ी। कोठी जितनी स्वच्छ, जितनी विशाल, जितनी सजी हुई एवं वैभवसम्पन्न है, झोंपड़ी उतनी ही जीर्ण-शीर्ण, उतनी ही अपनेमें सिमटी-सिकुड़ी और उतनी ही कङ्गाल है। कोठी और झोंपड़ी—दोनों एक दूसरोसे सटी। इनका क्या मेल ? क्या सामञ्जस्य इनमें ? लेकिन सामञ्जस्य जो संसारमें है, यही है। हम हृदयमें और बाहर झोंपड़ीसे सटी हुई ही कोठी खड़ी करते हैं।

नानुपहत्य भूतानि भोगाः सम्भवन्ति हि।

झोंपड़ियोंको गिराकर ही कोठी बनी—जाने दीजिये इस बातको। यह तो होता ही है। ऐसा न करना हो तो कोठी बने ही नहीं। लेकिन यह कोठी कैसे और कब

बनी, मैं यह नहीं कहने चला हूँ। मुझे तो इनकी कहानी कहनी है—इनमें रहनेवालोंकी कहानी। कोठी है और उससे सटी झोंपड़ी है। कोठीसे सटी झोंपड़ी होगी ही, उसके दम्भपर परिहास करती-सी ; किंतु ये कोठी और झोंपड़ी कुछ भिन्न हैं। इनमें धर्मात्मा रहते हैं, दोनोंमें ही धर्मात्मा रहते हैं।

कोठी है सेठजीकी। सेठजी, बाबूजी, महाराजजी, लालाजी, नेताजी, मिनिष्टिरजी, मेम्बरजीको छोड़कर कोठी हो भी किसकी सकती है। अब उन सेठजीका नाम-धाम पता-ठिकाना जानकर आप क्या करेंगे ? वे बड़े सज्जन हैं, बड़े उदार हैं, बड़े दानी हैं, बड़े भक्त हैं, बड़े धनी हैं, बड़े व्यापारी हैं, अर्थात् बड़े हैं ! बड़े हैं !! बड़े हैं !!!

झोंपड़ी है भोलाकी। सम्मानसे कहना हो तो भोलाराम कह लीजिये। आप उसका विवरण जाननेकी इच्छा सहज ही नहीं करेंगे। वह कङ्गाल है, श्रमजीवी है, दुबला है, ठिगना है, धीरे-धीरे बोलता है, धीरे-धीरे चलता है। थोड़ेमें कहें तो वह छोटा है, छोटा है, छोटा है। अन्ततः उसकी झोपड़ी भी तो छोटी ही है। उसके पास क्या मोटर है कि इधर-से-उधर सर्र-सर्र दौड़े उसपर चढ़कर ! उसके पास तो एक बुढ़िया घोड़ी भी नहीं ! सेठजी बोलते हैं तो कोठी गूँज उठती है ; किंतु भोलाका शब्द तो उसकी झोंपड़ीमें भी पूरा सुनायी नहीं पड़ता। भोला यदि सेठजीकी भाँति एक बार भी जोरसे बोले तो कोई उसका सिर न फोड़ देगा तो झिड़क देगा जरूर।

सेठजीके बनवाये तीर्थोंमें अनेकों मन्दिर हैं, धर्मशालाएं हैं। स्कूल पाठशालाएँ कई उनके व्ययपर चलती हैं और कई तीर्थोंमें अन्न-सत्र चलते हैं उनकी ओरसे। गरमीके दिनोंमें कितने प्याऊ सेठजी चलवाते हैं; यह संख्या सैकड़ोंमें है और जाड़ोंमें जिन साधु-ब्राह्मण एवं कङ्गालोंको वे वस्त्र तथा कम्बल दिलवाते हैं, उनकी संख्या तो कई सहस्र होगी। कोठीसे थोड़ी ही दूरपर सेठजीने अपने आराध्यका मन्दिर बनयाया है। कई लाखकी लागत लगी होगी। इतना सुन्दर, इतना विशाल इतना सुसज्जित मन्दिर आस-पास देखनेमें ही नहीं आता। दूर-दूरके यात्री मन्दिरमें दर्शन करते हैं। स्वयं सेठजी नित्य दो-तीन घंटे पूजा-पाठ करते हैं। कई विद्वान् ब्राह्मण उनकी ओरसे जप या पाठ करते रहते हैं। नियमित रूपसे सेठजी कथा सुनते हैं। उनका दातव्य औषधालय चलता है ओर पर्वोंपर प्रायः वे किसी-न-किसी तीर्थकी यात्रा कर आते हैं। तीर्थमें दान-दक्षिणा तथा पूजनमें हजारों खर्च कर आते हैं सेठजी; ऐसा धर्मात्मा इस युगमें बहुत कम देखनेमें आता है।

भोला जब रोटी बना लेता है, प्रायः पड़ोसीकी गाय हुम्मा-हुम्मा करती आ जाती है उसकी झोंपड़ीमें। एक टुकड़ा रोटी भोला उसे देता है। गैयाने यह नियमित दक्षिणा बाँध ली है। एक कुतियाने कहीं पास ही बच्चे दिये हैं। दो-तीन पिल्लोंके साथ वह भी पूंछ हिलाती आ जाती है। बेचारी हड्डी-हड्डी हो गयी है भूखके मारे और

उसपर ये पिल्ले। भोला भोजन करनेके पश्चात् एक टुकड़ा रोटी किसी प्रकार उसके लिए भी बचा रखता है। पासकी सड़कपर वहाँ आमके नीचे जो कोढ़ी बैठता है, रोटी तो सेठजीके क्षेत्रसे उसे कुछ डाँट-डपट सुननेके पश्चात् मिल ही जाती है ; किंतु पानीका नल कहीं पासमें है नहीं। भोला उसके घड़ेमें सवेरे और शामको नियमसे एक घड़ा पानी डाल आता है। वह जो पीपलके नीचे नालेके प्रवाहमें पड़कर गोल-मटोल बना पत्थर रक्खा है, वही भोलाके शङ्करजी हैं। स्नानके बाद एक लोटा जल वह उनको चढ़ा देता है, यही उसकी पूजा है। वह तीर्थ करने जाय तो पेटको फीस कहाँसे मिले ? यही क्या कम है कि शिवरात्रिको, वर्षमें एक बार वह चला जाता है गङ्गा-स्नान करने।

ये दो धर्मात्मा हैं। कोठीमें रहते हैं सेठजी और झोंपड़ीमें रहता है भोला। भोलामें साहस नहीं कि कोठीमें सेठजीके पास जाय और उनसे परिचय करे और सेठजीको कहाँ इतना अवकाश है कि अपनी इस विशाल कोठीके बाहर कोनेमें जो फूसकी ढेरी है, उसपर ध्यान दें और सोचें कि उसमें भी कोई दो पैरका जन्तु रहता है। ये दोनों पड़ोसी हैं, पर हैं सर्वथा अपरिचित। आप सम्भवतः मुझे कोसेंगे कि मैं क्यों भोलाकी व्यर्थ चर्चा करता हूँ। वह धर्मात्मा है—उसका धर्म यदि उसीके समान अपरिचित है हमारी-आपकी दृष्टिमें तो उसका क्या दोष ?

× × ×

[२]

अपने दोषोंको जरा भी न देखना और किसीके गुणमें भी दोष निकाल लेना संसारके प्राणियोंका कुछ स्वभाव हो गया है। वे सज्जन कहते हैं—'सेठजी दान-दक्षिणाका दम्भ तो बहुत करते हैं; किंतु उनके व्यापारमें धर्मादेकी जो रकम निकलती है, वह भी रोकड़-बहीमें जमा ही रहती है। यह मन्दिर कैसे बना, ये क्षेत्र कैसे चलते हैं, इनका कहीं कुछ हिसाब ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि ब्लैक (चोरबाजारी) की जो नित्यकी आमदनी है, उसका एक अंश इस धर्मकर्म में इसलिए लगाया जाता है कि वह आमदनी पच सके।'

ये दूसरे बाबाजी अपनेको बड़ा विचारक और सच्चा आलोचक मानते हैं। ये कहते हैं—'सेठजीके मन्दिरको देखकर वही लोग प्रशंसा कर सकते हैं, जिन्होंने सेठजीकी कोठी भीतरसे नहीं देखी। सेठजीने अपने लिए जैसा मकान बनवाया है, मन्दिर उसकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। भगवान्के लिए जो वस्त्र एवं आभरण हैं, उससे अच्छे तो अपने लड़केके व्याहमें सेठजीने नौकर-नौकरानियोंको उपहारमें दे दिये। यहाँ मन्दिरमें दो-तीन सामान्य सेवक हैं और इन सबका वेतन मिलकर भी सेठजीके एक निजी सेवकके वेतनके बराबर नहीं। भगवान्के भोगकी बात तो छोड़ दो। ये रोटियाँ सेठजीके यहाँ झाड़ू देनेवाले भी नहीं छुयेंगे।'

ये नेताजी हैं। ये सेठजीके ही किसी कारखानेमें किसी पदपर काम करते हैं। इनकी बात और भी विलक्षण है। ये मजदूरोंको उपदेश दिया करते हैं कि 'काम कम-से-कम करना और पैसा ज्यादा-से-ज्यादा लेना ही बुद्धिमानी है। इन सेठोंसे जितना और जैसे भी वसूल किया जाय, सब जायज है। सामने अफसर आ जाय तो काम करना, नहीं तो आराम करना। और कहने-रोकने-पर उसीका दोष निकालकर लड़नेको तैयार हो जाना, उसे पूँजीपति या गरीबोंका शत्रु बताकर चिल्लाने लगना—ये ही तरीके हैं इन लोगोंपर विजय प्राप्त करनेके।' ये व्याख्यानोंमें कहते हैं—'सेठजी मजदूरोंके पक्के शोषक हैं। दयाका नाम भी इनमें नहीं है। तनिक-सी भूलपर नौकरको निकाल देना यहाँ रोज-रोजकी घटना है। कितना कम वेतन दिया जाय और कितना कसके काम लिया जाय, यही सेठजीकी दृष्टिमें रहता है। काम करनेवाला भूखा है, थक गया है, दुःखी है आदि बातोंकी ओर उनका स्वयं तो ध्यान जानेसे रहा, कोई इनकी चर्चा भी कर दे तो लाल हो उठते हैं।'

ये पण्डितजी भी सेठजीसे सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। स्वयं चाहे अनुष्ठानके समय ऊँघते ही रहें पर इनका अभियोग है—'सेठजी लम्बे अनुष्ठान भी पहलेसे बहुत थोड़ी दक्षिणा तै करके कराते हैं। पाठशालाओंमें अध्यापकोंको बहुत कम वेतन दिया जाता है। मन्दिरों और क्षेत्रोंमें सदा काट-कसर करते रहते हैं। धर्ममें भी मोल-भाव करते हैं और यदि किसीने बिना तै किये पूजा-

पाठ कर दिया, तब तो उसे इतनी कम दक्षिणा मिलती है कि वह कहीं मिट्टी खोदता तो उससे अधिक पाता।'

संसारमें दोष देखनेवालोंकी, असूया—गुणमें भी दोषकी कल्पना करनेवालोंकी कमी नहीं है। कोई सेठजीको कंजूस कहता है, कोई अनुदार बतलाते हैं; कोई निष्ठुर कहता है और कोई अश्रद्धालु। स्वयं रिश्वत लेनेवाले सरकारी कर्मचारी उन्हें चोरबाजारी आदिका दोष देते हैं तो दूसरे दलोंके नेता उन्हें शोषक कहते हैं।

जहाँ दूसरोंको सेठजीके बहुत-से दोष दीखते हैं; वहीं सेठजीको भी दूसरोंसे सन्तोष नहीं है। सबसे अधिक तो वे इस झोंपड़ीसे असन्तुष्ट हैं, जो उनकी विशाल कोठीसे सटी खड़ी है। इस कूड़ेके ढेरने उनकी कोठीकी शोभा ही बिगाड़ रक्खी है। उन्होंने अनेक बार अपने मुनीम-मैनेजरसे कहा, अनेक बार प्रयत्न कराये झोंपड़ीकी भूमि खरीदनेके लिए। उनके सेवकोंने बताया है कि इस झोंपड़ीमें एक बहुत बुरा आदमी रहता है। बुराई उसमें सबसे बड़ी यही है कि वह किसी दामपर भी अपनी झोंपड़ी बेचता ही नहीं। सेठजीने कभी नहीं देखा झोंपड़ीमें रहनेवाले उस गन्दे जीवको। वे उसे देखना चाहते भी नहीं। वह घमण्डी है, उजड्ड है, मूर्ख है—और जाने क्या-क्या है सेठजीके मनसे। वे उससे घृणा करते हैं। वह भला आदमी कैसे हो सकता है, जबकि एक औषधालय या पाठशाला बनानेके लिए अपनी सड़ी झोंपड़ी बेच नहीं देता।

भोलाकी बात छोड़ दीजिये। वह तो पूरा भोला है। कुछ मजदूर नेताओंने उसे भड़कानेका प्रयत्न किया; कुछ दूसरे लोगोंने भी कारण-विशेषसे उसके कान भरे, उसे अनेक लोगोंने सेठजीके विरुद्ध बहुत कुछ बताया; किंतु ऐसे सब लोगोंका अनुभव है कि भोला पल्ले सिरेका मूर्ख और एकदम कायर है। उसमें साहस ही नहीं सेठके विरुद्ध मुख खोलनेका। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उसे सेठसे अवश्य गुप-चुप अच्छी रकम मिलती है। भोला क्या कहता है, इसे कोई सुनना नहीं चाहता। वह कहता है—'सेठजी बड़े धर्मात्मा हैं। कमानेको तो सभी उलटे-सीधे कमाते हैं; परन्तु अपनी कमाईमें-से इस प्रकार और इतना दान-पुण्य भला कौन करता है। ऐसे धर्मात्माके पड़ोसमें मैं रहता हूँ, यही मेरे बड़े भाग्य हैं। सेठजी मेरी झोंपड़ी अच्छे कामके लिए ही लेना चाहते हैं। इसमें उनका तो कोई स्वार्थ है नहीं। इतने बड़े आदमीका भला बित्ताभर जमीनसे क्या बनता-बिगड़ता है। लेकिन मैं क्या करूँ? मेरे बाप-दादेकी यही तो झोंपड़ी है, मैं इसे कैसे बेच दूं।'

भोला धर्मात्मा है—कुछ सीधे-सादे गरीब लोग कहते हैं। वह सड़कपर आमके नीचे पड़ा रहनेवाला कोढ़ी तो भोलाकी प्रशंसा करता थकता ही नहीं। सेठजी धर्मात्मा हैं, इसे कैसे कोई अस्वीकार कर देगा। यह बात तो सहस्रों व्यक्ति कहते हैं।

× × ×

[३]

कभी-कभी बहुत उल्टी बात होती देखी जाती है। विशेषत: ये लँगोटीधारी फक्कड़ लोग ऐसी अटपटी बातें करते हैं कि साधारण व्यक्ति कुछ समझ ही नहीं पाता, उस दिन ऐसे ही एक फक्कड़ आ गये थे कहींसे घूमते हुए। खूब मोटे-ताजे बाबाजी थे। हो तो गये थे बूढ़े, शरीरमें झुरियाँ पड़ गयी थीं और बाल सब-के-सब चाँदी-जैसे हो गये थे; किंतु जब चलते थे, अच्छे-अच्छे साथ चलनेमें दौड़नेको विवश होते थे। पासमें एक हँडिया थी और कमरमें एक लँगोटी। इतना ही बाबाजीका घर-परिवार, माल-असबाब सब था। उन जाड़ोंके दिनोंमें भी वे नङ्ग-धड़ङ्ग मस्त घूमते थे। यहाँ आकर सेठजीकी कोठीके पास वह जो पीपल है, उसके नीचे आसन लगाया उन्होंने। सेठजीको पता लगा होगा, वे एक महात्माको इस प्रकार सर्दी सहते देखकर बहुत बढ़िया कम्बल लेकर आये थे। बाबाजीने कम्बल उठाकर फेंक दिया और बिगड़े—'मैं पापकी कमाई नहीं खाया करता।' अब यह अटपटी बात नहीं तो क्या है? बेचारे सेठजी हाथ जोड़े खड़े रह गये। कोई दूसरा होता तो···लेकिन फक्कड़का कोई कर क्या लेगा?

बात यहीं रह जाती तो भी कुछ आश्चर्य न होता। सबको आश्चर्य तो तब हुआ, जब वहाँ भोला लगभग दौड़ता हुआ आया। वह भी साधु-सन्तोंका बड़ा भक्त है। दो मटमैले-से कई दिनके तोड़े हुए नन्हे-नन्हे अमरूद

बाबाजीके पैरोंके पास रखकर वह भूमिमें पूरा ही लेट गया। बाबाजीने झटपट अमरूद उठा लिये और इस प्रकार उनका भोग लगाने लगे, जैसे कई दिनोंसे कुछ खाया ही न हो।

'भगत! बड़े मीठे हैं तेरे अमरूद!' वे मस्त हो रहे थे और इस प्रकार भोलासे बातें करने लगे थे, जैसे वहाँ और कोई हो ही नहीं। 'तू बड़ा धर्मात्मा है। आज मैं रातको यहीं रहना चाहता हूँ, मेरे लिए थोड़ा-सा पुआल ला दे तू।'

'महाराज! मेरे पास ताजा पुआल ‥ ‥।' भोला बहुत संकुचित हो गया था, उस बेचारेके पास ताजा पुआल कहाँसे आवे। वह कोई किसान तो है नहीं। कहींसे कुछ पुआल ले भी आया होगा तो झोंपड़ीमें बिछाकर उसीपर सोता होगा।

'सेठजी! आप कष्ट न करें।' महात्माजीने सेठजीको रोक दिया; क्योंकि वे एक सेवकको कोठीमें-से पुआल ले आनेका आदेश दे रहे थे। सेठजीको मना करके वे भोलासे बोले 'तू जो पुआल बिछाता है, उसमें-से ही दो मुट्ठी ले आ। देख, सब-का-सब उठा मत लाना।'

'यह कौन है?' सेठजीने अपने मुनीमसे, जो पास खड़ा था, पूछा।

'इसीकी झोंपड़ी है वह!' जैसे सेठजी आकाशसे भूमिपर गिरे। 'यह धर्मात्मा है?' वे मस्तक झुकाये बहुत देर सोचते रहे।

'तुम क्या सोचते हो ?' सन्तने अब कृपा की उनपर। जो धर्मका सच्चा जिज्ञासु है, वह भूलें चाहे कितनी भी करे, अंधकार कबतक अटकाये रख सकता है उसे। सन्त कह रहे थे—'वह धर्मात्मा है या नहीं, इस बातको अभी छोड़ दो ! तुम धर्मात्मा हो या नहीं—यही बात सोचो।'

'मुझसे जो बन पड़ता है, करनेका प्रयत्न करता हूँ।' सेठजीका अन्तर स्वच्छ था और वे वही कह रहे थे, जो उनकी सच्ची धारणा थी।

'यदि भोला तुम्हारे दस हजार रुपये चुरा ले…।' सेठजी चौंके और भोलाकी ओर देखने लगे। माहात्माजीने कहा—'डरो मत ! तुम्हारे रुपये सड़कपर भी पड़े हों तो वह छएगा नहीं। मैं तो समझनेकी बात कह रहा हूँ कि यदि वह तुम्हारे दस हजार चुरा ले और उनमें-से सौ रुपये दान कर दे तो वह दानी हो जायगा या नहीं ?'

'चोरीके धनको दान करनेसे दानी कैसे होगा ? वह तो चोर ही रहेगा।' सेठजीने भोलाकी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

'वह सौ रुपयेका दान क्या कुछ फल नहीं देगा ? क्या पकड़े जानेपर सरकार उसे दान करनेके कारण छोड़ेगी नहीं ?' सन्तने बहुत भोलेपनसे पूछा।

'दान तो उसने किया ही कहाँ। दान तो मेरे रुपयेका हुआ, सो दानका कुछ पुण्य हो तो जिसका रुपया है, उ होना चाहिए। सरकार भला क्यों छोड़ने लगी उसे

'अब सोचो—तुम जो धन दान करते हो, वह सब तुम्हारी ईमानदारीकी कमाईका है या झूठ, छल, कपट, धोखा देकर उसे प्राप्त किया गया है ?'

'तो मेरा सब दान-धर्म···!' सेठजी सहसा नहीं बोल पाये। वे कई क्षण चुप रहे और जब बोले—रुकते-रुकते वाक्य पूरा करते अटक गये। उनकी आँखोंसे टप-टप बूँदें गिरने लगी थीं।

'ऐसा नहीं!' महात्माकी वाणीमें बड़ा स्नेह और आश्वासन था—'चोरने जो रुपये चुराये हैं, उनपर अनुचित रीतिसे ही सही, पर उसका अधिकार तो हो ही गया है। वह उन रुपयोंको बुरे कर्मोंमें भी लगा सकता है और दान भी कर सकता है। इसलिये जब वह उनमें-से कुछ दान करता है, तब दानका पुण्य तो उसे होता ही है; किंतु चोरीके पापसे दान करके वह छूट नहीं जाता। चोरीका दण्ड तो उसे भोगना ही पड़ेगा। अवश्य वह दूसरे दान न करनेवाले चोरोंसे श्रेष्ठ है। उसे दानका पुण्यफल भी अवश्य मिलेगा।'

'यह नन्हीं-सी सेवा···।' सेठजी बहुत देर सिर झुकाये चुपचाप कुछ सोचते रहे। बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर अन्तमें अपने कम्बलको स्वीकार करनेकी पुनः प्रार्थना की उन्होंने।

'तुम्हारी वस्तु होती तो मैं अवश्य ले लेता।' महात्मा कुछ हँसते हुए-से बोले—'तुम्हारा हृदय पवित्र है भैया! भगवान् बड़े दयालु हैं। वे शरणागतके अपराध देखना

ही नहीं जानते। वे क्षमा करेंगे और शक्ति देंगे। मैं यहाँ फिर आऊँगा और उस समय तुम मुझे अपनी वस्तु दे सकोगे।'

साधुओंकी इन उल्टी-सीधी बातोंको समझना कठिन ही है। सेठजीने क्या समझा, कुछ पता नहीं; किंतु उस कम्बलको लेकर वे महात्माके चरणोंमें प्रणाम करके कोठीमें लौट गये।

× × ×

[४]

व्यापारी कहते हैं—'यह सेठ पक्का धूर्त है। इसने हमलोगोंका रुपया हड़प जानेके लिए दिवाला निकाला है। बहुत बड़ी रकम दबा ली है इसने।'

भिखारी कहते हैं—'यह महान् कृपण है। इसने चलते हुए क्षेत्र बन्द करा दिये। भिखारियोंकी रोटी बन्द करके धन बटोरनेमें लगा है।'

पण्डे-पुजारी कहते हैं—'अब यह नास्तिक हो गया है। पर्वोंपर भो न तो कोई भेंट चढ़ाता और न कथा-वार्ता ही कराता है।'

सब लोग निन्दा करते हैं, सब असन्तुष्ट हैं। सेठजीका दिवाला निकल गया है। वे अब एक छोटे-से भाड़ेके मकानमें पत्नीके साथ रहते हैं। दलाली करके किसी प्रकार पेट भर लेते हैं। न मोटरें हैं, न कोठी है। न सेवक हैं, न स्तुति करनेवाले हैं। मन्दिरोंमें जो धन पहले लगा

दिया था, उसीसे वहाँ पूजाकी व्यवस्था चलती है। सेठजी अब यदा-कदा ही अपने मन्दिरोंमें जाते हैं। वे तो आज-कल एक कम्बलकी पूजा करते हैं।

यह सब तो हुआ; पर सेठजी हैं बड़े ही प्रसन्न। इतना कष्ट-क्लेश, इतना अपमान-तिरस्कार, इतना उलट-फेर— जैसे कुछ हुआ ही नहीं। वे कहते हैं—'अब मुझे पता लगा कि सुख क्या होता है और कहाँ मिलता है? अबतक तो मैं अशान्त और दुःखी ही था।'

आज फिर वे महात्माजी आये हैं। उसी पीपलके नीचे आसन लगाया है उन्होंने। आज भोला और सेठजी एक साथ आये। कहना यह चाहिये कि सेठजी भोलाको देखकर आये। एक बहुत घटिया कम्बल सेठजीने महात्माजीके चरणोंके पास धर दिया और भूमिपर मस्तक रक्खा।

'अब इस वर्ष जाड़ेभर मैं कम्बल ओढ़ूंगा।' महात्मा-जीने चटपट कम्बल उठाकर ओढ़ लिया।

'ये कृपा न करते तो मुझ-जैसेका उद्धार न होता, इनके पड़ोसके कारण ही मैं गिरकर सम्हल सका।' सेठजी भोलाके चरण छूने जा रहे थे।

'आप यह क्या कर रहे हैं? महात्मा हैं आप तो।' हक्का-बक्का-सा भोला पीछे हट गया।

वे सन्त दोनोंपर अनुग्रहकी वर्षा करते हुए मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे।

धी-धर्म

सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी ।

केशरकी क्यारियाँ जिसकी वायुमें सौरभ भरती हैं, कश्मीरकी वह कमनीय भूमि काव्यकला एवं विद्वानोंकी भी कई शताब्दियोंसे क्रीड़ाभूमि रही है। कई-कई दिगन्तदिग्विजयी भारतीके भव्य पुत्रोंने उस प्रकृतिकी प्रिय रङ्गस्थलीको भूषित किया है, किंतु अनन्त आकाशमें जो असीम आलोकके एकमात्र आवास हैं, उन भगवान् भास्करको भी अस्ताचल जाना पड़ता है। कश्मीरकी प्रतिभाका वह अद्भुत आलोक भी उस दिन तमसाच्छन्न हो उठा था। दिग्विजयी, शास्त्रार्थ-पञ्चानन प्रतिपक्ष प्रलकयंर प्रकाण्ड पण्डित पराजित लौटे थे उस दिन। शिष्योंको उन्होंने मार्गमें ही विदा कर दिया था। केवल दो नैष्ठिक गुरुभक्त साथ आये थे। ग्रन्थों तथा सामग्रियोंसे भरे शकट, विजयोद्घोषक वाद्य एवं परिकर, बहुमूल्य उपहारोंसे पूर्ण मञ्जूषाएँ तथा अश्व-गजादिका यूथ इस बार दूसरी यात्राओंके समान साथ नहीं आया था। वह सब वारणसीमें ही विसर्जित हो गया, जीवनकी प्रथम पराजयके दिन ही।

'मैंने वाग्देवीकी आराधना की थी युवावस्थाके प्रारम्भमें ही, उन हंसवाहिनीने मुझे अपने अशीर्वादसे सनाथ किया ; किंतु काशी विश्वनाथकी पुरी है। उस औढरदानी आशुतोषके आराधकोंके सम्मुख शारदाकी शक्ति भी कुण्ठित हो गयी, इसकी लज्जा मुझे नहीं है।' रजत केश, सुदीर्घ शरीर, पाटल वर्ण एवं विशाल भालसे मण्डित स्वय शैव हैं। उनके ललाटका त्रिपुण्ड्र और कण्ठकी रुद्राक्षमाला आज आतङ्कके स्थानपर श्रद्धा उत्पन्न करनेवाली हो गयी है। उनमें जो पण्डित्यका गर्व तथा औद्धत्य था, आज शमित होकर सौम्याकृति बन गयी है उनकी और उनके प्रशान्त मुखपर दीर्घ नेत्र जैसे किसी रहस्यको देख लेनेके प्रयत्नमें हैं।

पश्चात्ताप या खेदका लेश नहीं है मुखपर। जीवनमें जो विजयघोष सुननेका अभ्यासी रहा, वैभव जिसके चरणोंमें लुण्ठित होता रहा, जो सुरोंके समान स्तोत्रोंसे सम्मानित होता रहा, वह आज सम्पूर्ण राजसिकता बिसर्जित करके अधिक भव्य हो गया है। उसने—उसकी सूक्ष्मदर्शिनी प्रज्ञाने देख लिया है कि उसकी प्रतिभा जहाँ पूर्ण वेगसे प्रधावित थी, वह प्रशंसा मृगमरीचिका मात्र निकली। उनको संतोष है—'भगवान् चन्द्रमौलिके अपने आवासका चारु यश सुरक्षित रहना चाहिये था मेरी धृष्ठता ही थी कि मैं अन्नपूर्णाकी पुरीसे भी विजयपत्र चाहता था। काशीके वृद्ध एवं विद्याधनी शास्त्रार्थमें नहीं आते, यह सुना था। उनके चरणोंमें मस्तक रखनेवाले श्रीविश्वनाथके सेवक तरुण मेरा गर्व नहीं सह सके,

स्वाभाविक था और अन्ततः शारदा भी तो उन त्रिलोचन-की कृपाकणसे ही शक्तिशालिनी है। मुझ अनुचरका गर्वनाश करके उन्होंने कृपा ही की।'

'नहीं राजन्! यह वृद्ध अब राजसभाओंका सत्कार-सेवन करके तृप्त हो चुका। इसे आप अब अपने भस्माङ्ग-रागभूषित भवहारी आराध्यकी सेवाके लिए अवकाश दें।' महापण्डितने कश्मीर-नरेशकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। महाराज अपने महापण्डितकी इस पराजयको महत्व नहीं देते थे। वे चाहते थे कि राजसभा पहलेके समान उनसे सुशोभित हो। नरेशका यह प्रस्ताव भी कि महापण्डितके युवा पुत्र उनका स्थान स्वीकार करें, स्वीकृत नहीं हुआ।

'वत्स! विद्या वाग्देवीका वैभव है; किंतु वे शुभ्र कमलासना ही सर्वोपरि नहीं हैं।' उन प्रज्ञाके परम धनीने पुत्रको आदेश किया। 'पिताका अपूर्ण कार्य जो पूर्ण कर दिखाये, पुत्र होना उसीका सफल हुआ। मेरे पिताकी आकांक्षा शास्त्रार्थ-जयी होनेकी थी। उसे पूर्ण करनेमें जीवन लगा दिया मैंने, किंतु ब्राह्मणत्व दूसरेको पराजय देनेमें नहीं है। धीकी प्राप्ति–विशुद्ध निर्मल धी ब्राह्मणका धन है, तुम उसे उपार्जित करो।'

× × ×

'वत्स! तुमने अपने अभिवादनसे कौटल्यको गौरवान्वित किया। जिनकी यशोगाथा हिमवानके शुभ्र

शिखरोंसे लेकर आसिन्धु भारतभूमिको पवित्र करती है, उनके सुमेधा पुत्र जिसके अन्तेबासी होने पधारें, वह धन्य हुआ।' मगधका चक्रवर्ती जिनके सम्मुख सेवकके समान करबद्ध खड़ा होता था, वे आचार्य चाणक्य गद्गद-कण्ठ कश्मीरसे आये युवकको अपनी भुजाओंमें बाँधे, वक्षसे लगाये थे। उन राजनीतिके परम चतुर, सदा शुष्क कहे जानेवालेके नेत्रोंसे बिन्दु टपक रहे थे।

'आर्यावर्त आज आर्यकी बुद्धिसे श्रीसम्पन्न है!' विनम्र ब्राह्मण युवकने झुककर चरण-स्पर्श किया। "पिताने मुझे 'धी'की प्राप्तिका आदेश दिया है और आज देशमें आर्य ही एकमात्र उसके ज्योतिःकेन्द्र हैं।"

उस अत्यन्त सुन्दर, शिष्ट, विद्वान् युवकको विश्रामकी आवश्यकता थी। सुदूर कश्मीरसे यात्रा करता वह मगध पहुँचा था। अपने उटजमें ही आचार्यने उसे आवास दिया। चाणक्यके शिष्य गुरुका इङ्गित न समझ सकें तो उनका शिष्यत्व कैसा। वे अपने नवीन सहपाठीकी सुव्यवस्था तथा सत्कारमें स्वतः लग गये।

'आर्य! धीका स्वरूप क्या?' गोमयोपलिप्त वेदिकापर मृगचर्म बिछाकर कृष्णवर्ण, दीर्घारुण-नेत्र, भारतीय नीतिशास्त्रकी साकार मूर्तिके समान आचार्य चाणक्य जब अपना प्रातःकृत्य करके, अग्निको आहुतियाँ देकर विराजमान हो गये, वह प्रलम्ब-वपु, आजानुबाहु, कमललोचन, पाटलगौर नवयुवा कश्मीरका आगत छात्र उनके सम्मुख वेदिकासे नीचे कुशासनपर आ बैठा। उसके

नेत्र एवं मुखकी आकृति कहती थी कि जिज्ञासा उसमें सचमुच जागी है।

'कौटल्य दार्शनिक नहीं, नीतिज्ञ है, वत्स!' आचार्य चाणक्य गम्भीर हो गये। 'तुम्हारे नेत्र एवं भालकी रेखाएँ कहती हैं कि तुम्हारी प्रतिभा जब जागेगी, उसका आलोक जगतीको चमत्कृत कर देगा। तुम्हारे-जैसे मंत्री पाकर मगध अपनेको अनायास कृतार्थ मानेगा। तुम राजनीतिमें रुचि लेते...।'

'मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगा।' दो क्षण चाणक्य मौन रहे। उन्होंने देख लिया कि उनका प्रयास असफल रहा है। उनका यह नवीन छात्र अभी राजनीतिकी ओर कोई आकर्षण नहीं रखता। अतः उसके प्रश्नका उत्तर दिया उन्होंने—"बिना दर्शनके कोई विद्या पूर्ण नहीं होती; अतः चाणक्य दर्शनसे अपरिचित है, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता। धी एक वृत्त्यात्मक शक्ति है। वह पदार्थ नहीं है। अतः उसका रंग अथवा स्वरूप भी निश्चित नहीं है। मन ही जब विवेचन करता है, 'धी' कहलाता है और वह जिस तत्त्वको ग्रहण करके विवेचन करे, तदाकार हो जाना उसका स्वभाव है।'

'आर्य! धृष्टता क्षमा करें।' युवक दो क्षण मौन रह गया और आचार्यकी अनुमति दृष्टिके संकेतसे पाकर बोला—'राजनीतिके विवेचनका कार्य राजस नहीं है, आर्य?'

'कर्मकी समस्त प्रेरणा, समस्त कर्मचिन्तन राजस है।' बिना कुण्ठित हुए चाणक्य बोले। 'राज्य-व्यवस्था तो राजस है ही। उसमें लगी बुद्धि राजस है और राजनीति तो राजस ही नहीं, तामस भी है। उसमें हिंसा, छल आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो धर्मशास्त्रको स्वीकार नहीं है।'

'विशुद्ध धी…' युवकने पूछनेका उपक्रम मात्र किया।

'चाणक्य अर्थ एवं कामका विद्वान् है, वत्स!' आचार्यने बड़े स्नेहसे देखा उसकी ओर। 'तुम आज विश्राम करो। तुम्हारे उपयुक्त स्थलका विचार करूँगा। सत्त्वोन्मुख ब्राह्मणकुमारको रजस्के कीचमें डालनेका अपकर्म कौटल्य नहीं करेगा।'

× × ×

राजनीतिके कठिनतम प्रश्न जिसके भालपर एक भी आकुञ्चन लानेमें समर्थ नहीं हुए थे, वे आचार्य चाणक्य भी गम्भीर बन गये थे। उनके सम्मुख भी कश्मीरका यह युवक समस्या था। वे एक साम्राज्यके सूत्रधार—अभीप्सु ब्राह्मण-युवकोंकी जिज्ञासाको समाधान प्राप्त हो, इसकी व्यवस्था क्या राज्यका कर्तव्य नहीं है? राज्य कितना भी शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न हो, क्या यह व्यवस्था उसकी सामर्थ्यसीमामें है?

कश्मीरसे कोरा हाथ हिलाते ही तो वह यहाँ नहीं आ गया था। कश्मीर ही कहाँ तपस्वी साधकों एवं सिद्धोंसे रहित है? वैष्णवदेवी और अमरनाथका आकर्षण किसको

वहाँ आकर्षित नहीं करता ? स्वयं शिवाचार्य विद्यमान हैं वहाँ और उनका अनुग्रह प्राप्त है युवकके श्रद्धेय पिताको।

'प्रज्ञा और प्राणको एक करके साधक जब मूलाधारसे उठती परावाणीको जीवनमें अवतरित कर पाता है, उसके जन्म-जन्मके कलुष उस धवल धारामें धुल जाते हैं। प्राणोंमें अवतरित परावाणी ही पिण्डमें जाह्नवीका अवतरण है।' श्रीशिवाचार्यके उपदेशको अयथार्थ कहनेका साहस कौन करेगा ? लेकिन प्रत्येक जिज्ञासु किसी एक ही साधनका अधिकारी तो नहीं होता। जिज्ञासा कितनी भी तीव्र हो, वह साधनविशेषमें रुचि ही ले, आवश्यक तो नहीं है। शिवाचार्यने देख लिया था कि वह उनके कुलका नहीं है।

'मूलाधारमें साढ़े तीन कुण्डल लेकर मुखमें पुच्छ दिये जो ज्योतिर्मयी नागमाता प्रत्येक प्राणीमें प्रसुप्त है, तेरा सौभाग्य कि वह तेरी कुलकुण्डलिनी उद्बुद्ध है और वह स्वाधिष्ठानका भेदन करके मणिपुरतक आ चुकी है।' योगी चन्द्रनाथ मिले थे मार्गमें और उन्होंने स्वतः परिचय किया था उससे। उन्होंने स्वयं उसके मेरुदण्डको अपने करस्पर्शसे झंकृत किया था। परीक्षणके पश्चात् बोले—'तू जन्मान्तरका साधक है। आज्ञाचक्रतक तेरी कुण्डलिनी मासार्धमें पहुँच जायगी यदि तू साधन प्रारम्भ करे। भ्रमर-गुहा होकर विन्दुवेध करते सहस्रारमें पहुँचकर शून्यशिखरसे ऊपर सत्स्वरूपमें अवस्थित होनेमें भी तुझे अधिक समय अपेक्षित हो, ऐसी सम्भावना नहीं है।'

जिनका अनुग्रह पानेकी अच्छे साधक आकांक्षा करते हैं, उन योगसिद्ध चन्द्रनाथकी सहायताका लोभ भी उसे आकर्षित नहीं कर सका। उसकी उदासीनतासे चकित चन्द्रनाथने नेत्र बन्द किये और जब ध्यानसे उत्थित हुए तो शिथिल स्वरमें बोले—'तेरी उपेक्षा उचित है। तू इस कुलका है नहीं।'

'पता नहीं तू किस भ्रममें पड़ गया है।' अकस्मात् मिल गये थे उसे दिगम्बर घूमते यमुना-तटपर सिद्धाचार्य कुलशेखर और अट्टहास करते बोल उठे थे—'तू तो बत्तीस लक्षणोंसे सम्पन्न है। किसी वीरशैवने तुझे केवल इसलिए बलि नहीं बनाया कि उत्थित-कुण्डलिनी पुरुष पशु नहीं होता। वह शिवका स्नेहभाजन सेवक है। चण्डिका उसकी बलि स्वीकार नहीं कर पाती। तेरे लिए शक्ति मैं ला दूंगा, भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी त्रिपुराकी आराधना क्यों नहीं करता? चल आ?'

'मुझे क्षमा करें!' उसने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था। श्रीशिवाचार्यका सत्सङ्ग पिताके साथ वह कर चुका है। तन्त्रोंकी साधनाएँ उसने भले की न हों, उनके विवरणसे अपरिचित नहीं था। उसके चित्तमें उन साधनोंका स्मरण भी जुगुप्सा उत्पन्न करता था। अतः वह अवधूत कुलशेखरके समीपसे शीघ्र हट आया था।

'मुझे मोक्षाकांक्षा नहीं है।' उसने कई सिद्धों, साधुओंको यह उत्तर दिया है—'मेरा क्या होता है, इसकी चिन्ता मैं नहीं करता। पिताने मुझे एक आदेश दिया है।

वह जीवनमें पूर्ण न भी हो तो भी मुझे सन्तोष रहेगा यदि मैं उसे प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा रहा।'

पता नहीं उसका क्या रूप था। जिज्ञासा थी, पिताकी ख्याति थी अथवा उसकी तितिक्षा थी—क्या था; कुछ ऐसा अवश्य उसमें था, जो मिलनेवाले उत्कृष्ट विद्वानों, साधकों, सिद्धोंको उसकी ओर आकृष्ट कर लेता था। उसे महापुरुषोंकी कृपा मार्गमें प्राप्त होती रही, यह उसने अपने लिए परम सौभाग्य माना। वह अश्रद्धालु नहीं था। इतनेपर भी वह उनमें-से किसीकी कृपाका लाभ उठा नहीं सका।

आचार्य चाणक्यने नवीन आगन्तुकसे यह सब विवरण प्राप्त कर लिया था। कुशल राजनीतिज्ञ सम्पूर्ण परिस्थिति पहले जानना चाहता था। लेकिन परिस्थितिके परिचयने समस्याको सरल करनेमें कोई सहायता नहीं की। जिसे इतने उत्कृष्ट सिद्ध महापुरुष संतुष्ट नहीं कर सके, वह एक राजनीतिके ज्ञातासे संतुष्ट हो जायगा—इसकी सम्भावना भला कौन मानता; किंतु उसे भेजा कहाँ जाय? जिज्ञासु ब्राह्मणकुमारको निराश लौटा देना भी आचार्यका हृदय स्वीकार नहीं करता था।

'मुझे लगता है कि तुमको अपने भीतरसे ही प्रकाश प्राप्त होगा।' बहुत मनन-चिन्तनके उपरान्त चाणक्य इस निष्कर्षपर पहुँचे थे। 'तुम कुछ काल यहाँ निवास करो और अपनेको शान्त बनाकर भीतरसे मार्ग-दर्शन पानेकी चेष्टा करो।'

× × ×

'अस्य गायत्री मन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिःगायत्री छन्दः सविता देवता ' । प्रातःसंध्याके लिए गङ्गतटपर ही वह बैठ गया था । अभी आर्द्र केशोंसे विन्दु टपक रहे थे । संध्याका सङ्कल्प करके अंगन्यास बोलते-बोलते चौंक गया वह । मनमें मन्त्रका उत्तरार्ध जैसे स्वयं जाग्रत् हुआ—**'धियो यो नः प्रयोदयात् ।'**

'बुद्धिके प्रेरक हैं भगवान् सविता ।' प्रतिदिन तीन-तीन समय संध्या चल रही है बाल्यकालसे और अबतक इस तथ्यपर दृष्टि नहीं गयी ? लेकिन केवल मन्त्र-जप अथवा मन्त्रपाठसे तो कोई ऋषि नहीं हो जाता । मन्त्र जब हृदयमें स्वयं प्रकाशित होता है, उस अद्भुत आलोकका वर्णन वाणी नहीं कर सकती । संध्या साङ्ग सम्पूर्ण हुई । किसी कर्ममें कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ ; किंतु हुआ यह सब दीर्घकालोन अभ्यासके कारण । उसे पता नहीं लगा कि कैसे वे कर्म उसके द्वारा होते चले गये ।

सूर्योपस्थान करके वह गङ्गा-तटपर स्थिर खड़ा हो गया था । उसकी वाणी मूक थी ; किंतु उसका मौन स्तवन किसी शब्की अपेक्षा अधिक श्रद्धा-शबल हो गया था ।

आज उसके नेत्र भास्करकी ज्योतिसे विचलित नहीं हो रहे थे । वह ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलको अपलक देखे जा रहा था । क्या ? यह क्या ? उसका शरीर पुलक-प्रपूरित हो गया । उसके नेत्रोंमें अश्रुधारा चलने

लगी। उसने सुना था—शुक्लाम्बरपरिधान, शशिवर्ण, चतुर्भुज सशङ्ख-चक्र-गदा-पद्महस्त श्रीनारायण अधिष्ठाता हैं सूर्यमण्डलके और वे अखिलेश्वर आज मन्द-मन्द मुस्कराते प्रत्यक्ष हो गये हैं। शत-शत-चन्द्र-ज्योत्स्ना-स्निग्ध उनकी नखचन्द्रिका……।

'**धियो यो नः प्रचोदयात्।**' अचानक कण्ठसे परावाणी प्रकट हुई और उसने देखा कि वे सूर्यमण्डलस्थ पुरुष तो अतसी-कुसुमावभास पीताम्बर-परिधान, वनमाली बन गये हैं। उनका वह अमृतस्पन्दी स्मित—अणु-अणु उससे आप्लावित है।

'धी—मेधा, वह तो सहज सत्त्वरूपा है। सात्त्विक अहं उसका उद्भवकर्ता है। रजस् और तमस्‌का आश्रय लेकर तो वह विकृत होती है। अर्थ-काम उसके अपने क्षेत्र नहीं हैं। वह सत्त्वमयी—उसका क्षेत्र तो है सत्त्वमूर्ति धर्म।'

स्वच्छता

शशि सम्पूर्ण रात्रिकी यात्रासे श्रान्त होकर अपनी अस्ताचलकी सुकुमार शय्यापर शयन करने चला गया है। रात्रिके प्रहरी पक्षियोंको भी अवकाश प्राप्त हुआ है। तमःप्रसारके अपकर्मसे आकुल रजनी रानी अनेकविध रुदनसे पक्षियोंको अशान्त बनाकर अब चली गयी है। उसके अश्रुबिन्दु तृण-पत्रोंपर सर्वत्र स्पष्ट लक्षित हैं। स्वच्छताका भव्य सेनानी भास्कर अपनी रश्मियोंकी मार्जनी लिये अंधकारको जगतीके समस्त अञ्चलसे सावधानीपूर्वक स्वच्छ करता चला आ रहा है। अवश्य ही उसके इस आयासमें दिग्देवताओंका मुख अरुणिम रजसे रञ्जित हो उठा है। प्रभातके बन्दीजन पक्षिसमूह अपने सामूहिक सङ्कीर्तनमें लग गये हैं। उनका स्वर एक साथ सबको सम्बोधित कर रहा है—'उठो! आलस्य त्यागो! जागो! ज्योतिका सत्कार करो! जीवन तुम्हारे द्वारतक जयघोष करता आ गया है!'

वे कृशकाय कबके उठ चुके हैं। कालके पद जैसे उन्हें पराजित करनेमें असमर्थ हो-होकर लौट जाते हैं। अहर्निश अखण्ड कार्यक्रम उनका चलता रहता है। इस अविराम

अर्चनमें देवी निद्राको भी यदि कभी-कभी कुछ घड़ी-पल अवकाश प्राप्त हो जाय तो उनका सौभाग्य। वही सबसे अधिक उपेक्षिता हैं। अन्यथा वे सबको समय देते हैं। पूर्वसे निश्चय करके समय देते हैं। इन जनोंके रूपमें जनार्दन ही तो हैं, अतः जब वे स्वयं आराधनाका अर्घ्य लेने आते हैं, उनके किस रूपकी अर्चा अस्वीकार कर दी जाय। केवल अपने साथ वे कठोर हो सकते हैं। उनके शौच-स्नान, आहार-आरामका कोई निश्चित समय नहीं रहा है। इसमें भी यदि दूसरोंका आग्रह निमित्त न बने— कौन जानता है कि ये कैसे और कब अपनाये जायँ।

यह उनकी बात, उनका दृष्टिकोण है। कभी किसीकी एक कहानी पढ़ी है—'एक साधकने तपस्या करके वरदान पाया कि जिसे अपना एक रक्तकण दे देगा, उसका असाध्य रोग भी नष्ट हो जायगा। लोगोंने उसे दो दिन भी जीवित नहीं रहने दिया। सुइयाँ तथा अन्य शस्त्र चुभानेसे भी जब उसके देहसे रक्त निकलना बंद हो गया, अन्तिम आगतने उसे पैर बाँधकर वृक्षसे लटकाया। नीचे अग्नि जलायी और किसी प्रकार उसके देहका अन्तिम रक्तबिन्दु प्राप्त करके प्रसन्नचित लेकर वह लौटा।' कल्पित कथा सही, किंतु केवल स्वप्रयोजनपर दृष्टि रखनेवाले सामान्यजनोंकी मानस-प्रवृत्तिका सम्यक् निरूपण है इसमें और उनको देखकर लगने लगता है, यह कथा सत्य भी हो तो आश्चर्य नहीं। अपना प्रयोजन प्रत्येकके लिए वह अत्यन्त लघु लगता है। प्रत्येक समझता है, इतना अल्प आयास तो उसके लिए उन्हें

करना ही चाहिए। स्वप्नतम सुमन भी सहस्रशः करोंसे जब देवतापर समर्पित होने लगते हैं, पाषाणका श्रीविग्रह भी किस प्रकार क्षीण एवं जर्जर हो जाता है, प्राचीन मन्दिरोंमें मैंने इसे देखा है। लेकिन लोक-मनोवृति— उनकी असुविधापर किसीकी दृष्टि कहाँ जाती है।

यह तो चलता ही रहेगा। उनकी अन्य प्रवृत्तियोंमें भी तो कुछ दर्शनीय हैं। उनके शरीरपर दो घड़ी रहनेवाला कम्बल भी जलक्षालित होकर ही पुनः उपयोगके योग्य होता है। वे जिस तृणासनपर आसीन होते हैं, दूसरी बार उपयोगमें आनेके लिए उसे भी स्नान कराके सुखा लिया जाना चाहिए। वस्त्रकी बात तब बताना अनावश्यक है।

उनका शरीर—स्वच्छता तथा अर्चाके आयासने उसे अत्यन्त कृश कर दिया है। मल तो वहाँ कहाँसे रहेगा, कायाकी आवश्यक मिट्टी भी कई-कई बार स्नानसे धुलती, कृपालु आगतोंकी अर्चाका श्रम सहती क्षीणतर होती चली गयी है। कङ्काल प्रायः रह गया है उनका शरीर।

उनका आग्रह देखता हूँ स्वच्छताके प्रति, तो दूसरा पार्श्व इसका स्मरण आ जाता है। कई वर्ष हो गये जब कैलास-मानसरोवरकी यात्रापर गया था। पुण्य प्रदेश उसे यों ही नहीं माना गया है। सत्त्व ही सघन होकर जैसे सर्वत्र शुभ्र हिमके रूपमें एकत्र है। पूय-गन्ध वहाँ इस असीम शैत्यमें उठती नहीं। कुछ भी तो वहाँ नहीं सड़ता।

वहाँके लोग स्नान नहीं करते । शरीरमें जहाँ कभी स्वेद नहीं होता, स्नानकी आवश्यकता है या नहीं—कहना कठिन है ; क्योंकि शास्त्रकी दृष्टि स्वास्थ्यकी ही दृष्टि तो नहीं है । वस्त्र-प्रक्षालन-जैसी कोई क्रिया उस प्रदेशमें नहीं है । वे केवल ऊनके बुने वस्त्र पहिनते हैं या चर्माम्बर । स्मृतिकारोंने भी इन वस्त्रोंको वायुसे शुद्ध होनेवाला माना है । वे उसे हिम-शुद्ध करते हैं । कभी लगा कि वस्त्रमें स्वेदज प्राणी उत्पन्न हो गये हैं (स्वेद न होनेपर भी वे उत्पन्न होते हैं) तो वस्त्रको रात्रिमें बाहर खुले स्थानपर छोड़ देंगे । स्वच्छता सम्पूण हो गयी ।

अस्वच्छ हैं वे ? रुकिये, इतना सरल उत्तर इसका नहीं है । वह पुण्यप्रदेश–प्रातः उठनेपर मुखमें दुर्गन्धि अथवा मल वहाँ नहीं मिलता । दन्तधावनकी प्रथा वहाँ नहीं है, आश्चर्य क्या है । सर्वत्र रक्तको हिम करनेवाला सलिल–उससे कुछ क्षालित नहीं होता । जहाँ शरीरपर उसे लगायेंगे, मैल भी शरीरके समान कठोर होकर स्थिर बन जायगा और उष्णताकी उपलब्धिका साधन काष्ठ वहाँ होता नहीं । कुछ क्षुप्‌मात्र यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं । वायु-शुद्धि—देवभूमिकी सहज पावन, रजःस्पर्शसे सर्वथा रहित और अविराम अश्रान्त प्रवाहित वायुदेव वहाँ सचराचरकी शुद्धिमें स्वयं संलग्न हैं ।

और अब मुझे वह मरु-प्रदेश स्मरण आ रहा है । मनका स्वभाव ही है तनिक-सा सूत्र ग्रहण करके उड़ान ले लेना । जलके अभावसे उत्पीड़ित वहाँका प्राणी । वह

रजःशुद्ध है। मृत्तिका सर्वत्र मलिन ही तो नहीं करती, मार्जनका भी तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण वही है।

प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षाके लिए पावसमें जो मेघोंसे जीवनकी धारा प्राप्त होती है—जल जीवन है, यह बात उसी प्रदेशमें बुद्धि ग्रहण कर पाती है, वर्षाका वह जल कौशलपूर्वक वर्षभर सुरक्षित न रक्खा जाय, प्राण ही असुरक्षित हो जायँगे। उस जलको जो जीवनका अमूल्य आधार है, क्षालनके लिए अपव्यय कोई करे, समाज उसे क्षन्तव्य मान लेगा ?

रजःपूत प्राण हैं वहाँके ; किंतु मुझे आश्चर्य हुआ जब मैंने देखा उस गृहमें गृहपतिके अर्चापीठपर भगवान् मत्स्यका श्रीविग्रह। इस रेणुका प्रदेशमें प्रलयाब्धि-विचरण-विनोदी मत्स्यकी आराधना ! अर्णव आवेष्टित कोई द्वीप उचित अधिकारी है इस अर्चाका और रम्यक-वर्षमें वैवस्वत मनु यदि अपने त्राणकर्ताकी उपासना करते हैं, उचित है ; किंतु मरुभूमिमें ?

'मैंने अनेक वर्ष अपनी स्वच्छतापर अभिमान किया !' पूछनेपर गद्‌गदकण्ठ, अश्रुलोचन गृहपति कह रहे थे-- 'इन सत्त्वमूर्ति प्रभुने इस अकिञ्चित्कर अज्ञपर अकारण कृपा की। इनका रजतस्वच्छ श्रीअङ्ग परम शीतल—सत्त्वघन ही तो है। गलितगर्व आज मैं अपनेको धन्य मानता हूँ।'

उनकी वाणीमें आकर्षण था। उनकी चेष्टामें स्पृहणीय सौजन्य था। उनका वर्णन मनको सम्पूर्ण

विवरण ज्ञात कर लेनेको समुत्सुक बना रहा था। मुझे उनके यहाँ रुकना पड़ा; क्योंकि अवकाशमें वे हों, स्वस्थ-चित्त हों तभी मैं उनसे सुननेकी आशा कर सकता था।

× × ×

'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः' (२।४०) योग-दर्शनकारकी इस बातपर कभी ध्यान ही नहीं गया था। मुझे तो मेरी स्वच्छताने इससे सर्वथा विपरीत बना दिया था। मुझे लगता था कि मेरे वस्त्र, मेरे पात्र, मेरे उपकरण दिव्य हैं। परम पवित्र हैं वे। मेरा शरीर पावन है। दूसरोंका अल्पतम स्पर्श मुझे क्लेश देता था। वे एकान्तमें मेरे अतिशय आग्रहपर सुना रहे थे—'यदि किसीकी छाया भी मेरे वस्त्रोंपर पड़ जाय, मैं वस्त्रोंको धोता था। अनेक श्रद्धालु आये; किंतु मैंने उन्हें झिड़क दिया। कोई इतना स्वच्छ पवित्र हो कैसे सकता था कि मेरी कोई क्षुद्र सेवा भी कर सके।'

'उन दिनों श्रीजगन्नाथपुरीमें रहता था। सागरतटका एकान्त रमणीय स्थान, नीलाचलका निवास; किंतु मैं दूरसे नीलचक्रके दर्शन करके ही सन्तोष कर लेता था। मन्दिरमें जानेपर अनेक लोगोंका स्पर्श होगा। अपवित्र हो जानेकी आशङ्कासे ही मेरा चित्त व्याकुल हो जाता था। कितना भाग्यहीन था मैं। श्रीजगन्नाथपुरीमें रहकर भी उन पुरुषोत्तमके दर्शनसे वञ्चित अपने अहङ्कारके कोशमें बन्द कौशेयकीटकी भाँति घृणित!' रुदन करने लगे वे।

'**परैरसंसर्गः**' का कितना भ्रान्त अर्थ माना था मैंने।' तनिक स्वस्थ होनेपर बोले—'आत्मतत्त्वसे भिन्न प्रतीयमान समस्त प्रपञ्च 'पर' है। उससे असंसर्ग—उसमें अभिनिवेशका अभाव, यह बात तो कभी सूझी ही नहीं। जिस 'स्वाङ्ग'से 'जुगुप्सा' होनी चाहिए थी, वही परम पवित्र हो गया था मेरे लिए और उससे भिन्न शरीर 'पर' थे। उनसे असंसर्ग साधनेमें ही मैं अपना समस्त पौरुष समर्पित कर चुका था।'

'अहङ्कार, घृणा, क्रोध, पता नहीं कितना कलुष मैंने स्वयं अपने अन्तःकरणमें भर लिया था और भरता जाता था। इतनेपर भी मानता था कि मैं स्वच्छ हूँ। पवित्र हूँ।' उन्होंने मेरी ओर नेत्र उठाये—'आज मुझे पता लगा है कि मैं कितना मूर्ख था। जल, मिट्टीके द्वारा मलके पिण्डको ऊपर-ऊपरसे प्रक्षालित करके मैंने मान लिया था कि वह स्वच्छ हो गया और इस अहङ्कारने मुझे उद्धत बना दिया। निर्बाध कलुष मैं चित्तमें भरता चला गया।'

'मुझे अत्यधिक क्लेश होता था तब, जब मैं समुद्रमें मछुओंको जाल खींचते देखता था। उनके जाल तथा शरीरसे निकली दुर्गन्धित अपवित्र वायुसे बचनेका कोई उपाय नहीं था। कितना भी मैं अपनेको द्वारके भीतर बन्द कर लूँ, वह वायु मेरी नासिकामें आती थी और उसे अपने शरीरमें पहुँचनेसे मैं रोक नहीं सकता था।' इस समय भी जब वे यह चर्चा कर रहे थे, उनके भालपर

किंचित् आकुञ्चन मैंने लक्षित किया—'समुद्रतटका मेरा निवास था। इन पापजीवी पशुप्राय लोगोंपर मुझे कितना क्रोध था…।'

अचानक वे खुलकर हँसे। संस्कारवश जो क्षोभ मनमें आ रहा था, उसे इस प्रकार उन्होंने तिरस्कृत कर दिया। कहने लगे—'कोई भी साधन प्रारम्भ होता है चित्तको शुद्ध करनेके लिए। शान्ति एवं सुखकी प्राप्तिके लिए—यह कहना अधिक उपयुक्त होगा; किंतु मेरे साधनने मेरे चित्तको अत्यन्त मलिन बना दिया था। मुझ-जैसा अशान्त एवं दुखी व्यक्ति मिलना कठिन था। अन्ततः व्याकुल होकर मैंने देहत्यागका निश्चय किया।'

'धवल ज्योत्स्नाने उदधिके अंतरमें अपने नभस्थित आत्मजके प्रति वात्सल्य—पूर उठा दिया था। अम्बुधि शत-शत उच्छलित तरङ्गोंसे उडुनाथको अङ्कमाल देने उठता लगता था। इस महामहोत्सवका दर्शन करने श्रद्धालु जन सागरतीरपर आ जाते हैं, इधर मेरा ध्यान नहीं था। मैं स्वर्गद्वारसे दूर निकल गया और उच्छ्वास लेते पयोधिको अपना पवित्र शरीर समर्पित करने बढ़ा।' सर्वाङ्ग रोमाञ्च-कण्टकित हो गया उनका। उस क्षणका स्मरण करके वे कई क्षणोंतक मूक-विभोर बने रहे।

'लहरोंने मेरा स्पर्श किया और जैसे ही मैं वेगपूर्वक बढ़ा, मुझे उठाकर पुलिनपर पटक दिया। अकस्मात् एक शीतल उज्ज्वल डेढ़-दो हाथका मत्स्य भी मेरे ऊपर उछल आया। वह मेरे शरीरपर छटपटाया और तरङ्गके दूसरे

आगमनके साथ सागरमें चला गया। दो क्षण लगे इस सबमें ; किंतु उस शरत्पूर्णिमाकी रात्रिके वे दो क्षण— मेरे जीवनकी पूर्णताके क्षण थे वे। अनन्त अम्भोधिके अङ्कसे वे अकारण कृपासागर ही मुझे अपना स्पर्शदान करने आये थे।' दो क्षण रुक गये वे।

'मत्स्यका शरीरपर छटपटाना—मैं चौंका, घबराया और दुर्गन्धिसे व्याकुल हो गया। उठा तो लगा कि पूरे देहसे मछलीकी दुर्गन्धि आ रही है। वही दुर्गन्धि जो दूरसे आती थी तो मैं दौड़कर द्वार बंद कर लेता था। तीव्र घृणा—अपने देहसे उस क्षण पहली बार घृणा हुई।' कई क्षण फिर निस्तब्ध रहकर बोले–'अचानक मस्तिष्कमें जैसे प्रकाशपिण्डका विस्फोट हुआ हो। निरन्तर अनन्त वारिराशिकी लक्ष-लक्ष तरङ्गोंसे धौतवपु मत्स्य इतना अपवित्र, इतना दुर्गन्धित और तेरी यह काया ? यह भी तो मांस-मेद, रक्त-कफ-पित्त, अस्थि-स्नायुका पिण्ड है। कुछ घड़े जलसे धोकर तू इसे पवित्र–स्वच्छ बना लेगा ?'

'भगवान् मत्स्य उस क्षणसे मेरे परम गुरु हैं। ये मेरे परमाराध्य हैं।' भरे कण्ठ वे कह रहे थे—'कुछ काल और वहाँ रहकर जन्मभूमि आ गया। अब मुझे जलाभाव पीड़ा नहीं देता। स्वच्छताकी सनकने मुझे पितृ-सेवासे वञ्चित किया था। प्रभुकी कृपासे वह उन्माद मिटा तो घृणा, अहङ्कार क्रोधके कल्मष अपने-आप चले गये। ये सब भी तो उसी गर्वतरुके कोटरमें आश्रय लेनेवाले प्राणी थे। तरु गिरा और ये निर्मल हुए। पितृपदोंकी सेवा उनकी

अन्तिम अवस्थामें ही मिली ; किंतु मुझे पश्चात्ताप नहीं है। गर्वका शस्त्र जिसे आहत करता है, कुछ पीड़ा दिये बिना उसका व्रण कहाँ पूर्ण हो पाता है।'

× × ×

रस्सीपर चटाई, कम्बल, गैरिकवस्त्र सब साथ ही सूख रहे हैं। ये सूखकर उपयोग योग्य होंगे तो इनका स्थान दूसरे ले लेंगे। स्वच्छताका यह क्रम तो अबाध चलता है। प्रकृति अपने स्वभावसे तो सर्वत्र धूलि ही डालती है। विकृत होना उसका स्वभाव है। स्वच्छता सायास प्राप्त करना पड़ता है। आयास शिथिल होगा—आवास हो, शरीर हो, अंतःकरण हो—अवश्य वह अस्वच्छ हो रहेगा। स्वच्छताका प्रयास तो चलता ही रहना चाहिए। जबतक जीवन है, जागृति है, इस आयासकी अपेक्षा तो रहेगी ही।

'यह मल-मूत्रकी थैली—इसमें धरा क्या है।' वे श्रद्धेय उस दिन कह रहे थे। स्वच्छताका इतना अथक आयास और वाणीका यह वर्णन—स्वच्छता सफल होती है यहाँ आकर, यह बात मुझे उस दिन उन मरुभूमिके ग्राममें उन श्रद्धेय गृहस्थने समझायी थी और उस साफल्यके साकार विग्रह इन श्रद्धेय शीर्णाङ्गके पदोंमें आज मैं प्रणिपात करता हूँ।

साधन-सिद्धि

साधन सिद्धि राम पद नेहू ।

'आपकी उपस्थिति भी यदि प्राणियोंको अभय न दे सके, किसकी शरणमें जायँ हम अशिक्षित, उपेक्षित, असहाय प्राणी !' कई ग्रामोंके प्रमुख एकत्र होकर आये थे। उनमें जो सबको लेकर आये थे, वे प्रार्थना कर रहे थे।

राजधानीसे दूर, घोर वनसे लगभग घिरे हुए जो थोड़े-से ग्राम यहाँ वनवासियोंके हैं, उनमें कुछ गिने-चुने लोग सुसंस्कृत भी हैं; क्योंकि कश्मीरके विरक्त विद्वान् ब्राह्मणोंका परिवार इन ग्रामोंमें एक लम्बी अवधिसे रहता आया है। उनके सम्पर्कने विद्या-व्यसन दिया है। अब उन लोगोंमें अनेक बौद्धधर्मावलम्बी हैं।

पता नहीं किसके अपराधसे, किसके अपकर्मका परिणाम है कि एक अश्रुतपूर्व उत्पात इन दिनों यहाँ प्रारम्भ हो गया है। वनका एक शेर आततायी बन गया है। किसी-न-किसीके पापका हो यह परिणाम है। अन्यथा वनपशु तो कभी मानवका शत्रु नहीं रहा इस पवित्र

प्रदेशमें। शेर अब इन जनपदों तकमें आने लगा है। वह गोष्ठसे पशु ही नहीं उठा ले जाता—दो-तीन मानवोंका भी आखेट कर चुका है।

शासक प्रमत्त नहीं हैं। समाचार पाकर शासकीय अधिकारी तीन बार आ चुके हैं, किंतु शेर बहुत चतुर है। वह या तो मिलता नहीं, अथवा इतना अकल्पित आक्रमण करता है कि आखेटक कुछ नहीं कर पाता। तीन अभियानोंमें चार राजकर्मचारी आहत हो चुके और उनमें एक तो मृत्युका ग्रास बन गया।

'कोई असुर आ गया है इस वनमें।' लोगोंमें अनेक प्रकारकी बातें फैली हैं—'वह प्रेताविष्ट पशु है। उसे कोई मार नहीं सकता।'

जब दूसरा उपाय नहीं दीखा, वनवासी ग्रामोंके लोग एकत्र हुए और उन्होंने महासिद्धकी शरण लेनेका निश्चय किया। बौद्ध महायान मार्गके उन्नायक, चौरासी सिद्धोंमें प्रथम सिद्ध सरहपा (श्रीनागार्जुन) इन दिनों कई महीनोंसे अपनी साधनाके लिए समीपके वनमें आ गये थे। वनवासियोंका समुदाय उनके आश्रम पहुँचा।

'महापुरुषोंकी उपस्थिति ही सम्पूर्ण आतङ्कोंको उपशम दे देती है।' आगतोंने प्रार्थनाकी—'हम आर्त हैं और हमारे अपने उद्योग असफल हो चुके हैं।'

'अच्छा!' अपनी बड़ी-बड़ी पलकें उन परम प्रज्ञावान् त्रिकालदर्शी, अमितशक्ति महापुरुषने उठायी, 'लगता है कि कन्हको इसका अनुमान हो गया था। वह आरहा है।'

दृष्टि जिधर उठी थी लोगोंने उस ओर मुड़कर देखा। दूर वृक्षोंके मध्यसे निकलती एक आकृति उन्हें दीख पड़ी। कोई आ रहा था—कोई शेरकी पीठपर बैठा चला आ रहा था। आश्चर्यसे लोग उधर देखने लगे।

चरवाहे बालक जैसे अपने भैंसेकी पीठपर स्वच्छन्द बैठते हैं, शेरकी नङ्गी पीठपर, एक ही ओर दोनों पैर लटकाये जो अल्हड़, जटाजूटधारी युवक आ रहा था, वह इन ग्रामवासियोंके लिए अपरिचित नहीं है। सबका प्रिय, सबका श्रद्धा-भाजन, किञ्चित् सङ्कोची महासिद्ध सरहपाका प्रिय शिष्य कन्हपा—उसे भला कौन नहीं जानेगा।

'मैं इसे पकड़ लाया हूँ।' थोड़ी दूरपर कन्हपा शेरकी पीठसे कूदे और उन्होंने आकर गुरुदेवके सम्मुख भूमिमें मस्तक रखनेके पश्चात् दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'जो दण्ड-विधान श्रीचरण निश्चित करेंगे, यह स्वीकार कर लेगा।'

शेर अब बैठ गया था। वह जैसे मस्तक झुकाये आया था, अब भी वैसे ही मस्तक झुकाये था। एक बड़े आकारके पालतू कुत्ते-जैसा वह शान्त था।

'कन्ह इसको अपना वाहन बना चुका।' महासिद्धने ग्रामवासियोंकी ओर देखा—'अब यह उत्पात तो करनेसे रहा। इसे तो साधकत्व प्राप्त हो गया। वनपशु है—अपने स्वभाव-दोषसे हिंसा की है। आप सब इसे अब क्षमा कर दें, यही उचित होगा।'

दृष्टि फिर शेरपर गयी और वह उठा, धीरे-धीरे चलकर समीप आया और महासिद्धके चरणोंपर सिर रखकर बैठ गया।

'महासिद्धकी जय!' आगतोंने उत्साहपूर्वक जयनाद किया।

× × ×

'महासिद्धकी जय!' 'कन्हपाकी जय!' जनसमूह उमड़ा पड़ रहा था। लोगोंकी श्रद्धाका आवेग भी एक नदीपूर है, जब वह उमड़ता है, उसपर अंकुश रखना सरल नहीं होता। राजकर्मचारी बड़ी कठिनाईसे भीड़को नियन्त्रित कर रहे हैं।

जनताका यह उत्साह, श्रद्धाका यह आवेश सर्वथा उचित है। महासिद्धके प्रिय शिष्य कन्हपाने उन्हें जीवन-दान दिया है। बहुत नीची है कश्मीर घाटी। पर्वतोंसे घिरी यह एक विशाल झील ही तो थी, जो महर्षि कश्यपकी कृपासे जल निकल जानेके कारण आवासभूमि बन गयी। यों भी इस घाटीमें झीलों, कुण्डों, स्रोतोंकी बहुलता है; किंतु जब कभी बड़ी वर्षा होती है—इस पुराण-वर्णित झीलमें नागने जो जल निकलनेका मार्ग बनाया वह छोटा रह गया है। इसे वर्षा शीघ्र ही झील का रूप देने लगती है। इस बार तो तीन दिन-रात मेघ खुले ही नहीं थे। लगता था कि घाटीमें प्रलय आ गयी है।

महासिद्ध अपने आश्रममें ध्यानस्थ थे। कुशल यही थी कि वे राजधानीके आश्रममें थे। जब चल आश्रममें

प्रवेश करने लगा, सहसा कन्हपा उठ खड़े हुए। अनेक लोगोंका कहना है कि वे शरण लेने आश्रम गये उस समय। वे कहते हैं—'कन्हपाके मुखकी ओर देखना सम्भव नहीं था। लगता था कि सूर्य ही पृथ्वीपर उतर आया है।'

आश्रमसे बाहर आकर एक दृष्टि उन्होंने मेघोंपर डाली। 'हुं' एक धीमी हुंकार और मेघ तो वायुके झकोरोंमें उड़ते ही चले गये। दो क्षणमें तो सुनहली धूप पूरी घाटीपर चमकने लगी थी।

आकाश खुल गया था; किंतु धरा तो जैसे प्रलय-सागरमें डूबती जा रही हो। जलमें तैरते-डकराते पशु, भवनोंकी छतोंपर टँगे रोते-चिल्लाते शिशु और उनकी माताएँ। फूसके छप्पर, खपरैलें—सबपर लोग घरका सामान लेकर चढ़ गये हैं या चढ़ रहे हैं। नीचे पानीमें कहाँ क्या डूबा है, क्या बह रहा है, कौन गणना करे।

सुना है कि महर्षि अगस्त्यने कभी समुद्र पी लिया था; किंतु देखनेवाले भी कुछ समझ नहीं सके कि इस बार क्या हुआ। कन्हपाने अपनी दाहिनी भुजा उठायी और कुछ संकेत किया—सम्भवतः उनकी अंगुलियोंने कोई मुद्रा बनायी। जल अकस्मात् वाष्प बनकर उड़ता तो बादल या कुहरा उठता। इतना जल किसी मार्गसे बह जाता तो उसमें बहुत प्रबल प्रवाह उमड़ता और कन्हपाने उसे पिया हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं हुआ। हुआ चाहे जो हो, जल बड़ी शीघ्रतासे घटने लगा था।

कन्हपा स्थिर शान्त भुजा उठाये आश्रमके बाहर खड़े रहे और जल घटता गया, घटता चला गया। सायंकालतक केवल भूमि गीली रह गयी थी। छोटे गड्ढोंतकके जलको पृथ्वीने सोख लिया था उस समयतक, जब कन्हपाने अपनी भुजा नीचे की और आश्रमकी ओर मुड़े।

राजकर्मचारी शीघ्र सावधान हो गये थे। समाचार फैला और जनसमूह श्रद्धाके आवेशमें उमड़ पड़ा। स्वयं कश्मीर-नरेश पधारे महासिद्ध एवं उनके महामहिम शिष्यकी चरण-वन्दना करने। इस जय-घोषके कोलाहलके कारण महासिद्ध समाधिसे उत्थित हो गये थे।

'कन्ह !' रात्रिके द्वितीय प्रहरमें जब जनताका कोलाहल शान्त हो चुका था और आनेवाले लोग लौट चुके थे, महासिद्धने अपने शिष्यको समीप बुलाया और स्थिर दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। 'तुमने कोई अकार्य किया है, ऐसा मैं नहीं कहता ; किंतु साधनकी सफलता समष्टिके विधानोंमें परिवर्तन करनेकी शक्ति प्राप्त करना तथा ऐसे हस्तक्षेप करना नहीं है। तुम भटक गये हो अपने मार्गसे।'

कन्हपा—आज पूरा नगर जिन्हें महासिद्धकी दूसरी मूर्ति मान रहा था, वे कन्हपा मस्तक झुकाये अपराधीके समान खड़े थे। नगरके किसी निवासीने दूसरे दिन आश्रममें उन्हें नहीं देखा।

× × ×

'कन्हपा बहुत दुखी हैं।' महासिद्धको उनके शिष्य प्राय: समाचार देते रहते हैं। सब जानते हैं कि सरहपा त्रिकालदर्शी हैं और अपने आश्रितोंकी वे कभी उपेक्षा नहीं करते। उन्हें समाचार देना अनावश्यक है। लेकिन कन्हपाके प्रति जो सहज अनुराग उनके गुरुभाइयोंमें है, उससे सब विवश हैं। उनमें कई यात्रा करके महीने-डेढ़-महीने दुर्गम पर्वतीय पथमें चलकर कन्हपासे मिलने गये हैं। 'वे ध्यान नहीं कर पाते। समाधिमें उनकी स्थिति अब नहीं होती। वे प्राय: रुदन करते रहते हैं।'

महासिद्ध, पता नहीं, कन्हपाके प्रति क्यों इतने निष्करुण हो गये हैं। अपने सर्वप्रिय शिष्यके प्रति उनमें करुणा क्यों नहीं जागती? वे सङ्कल्प करें—एक पामर प्राणीको भी वे समाधिमें बैठा देनेमें सहज समर्थ हैं। कन्हपा तो उनके योग्यतम अधिकारी शिष्य हैं। लेकिन कन्हपाका नाम आनेपर महासिद्ध केवल मुसकरा करके रह जाते हैं।

'वह अपने कुलका नहीं है।' उस दिन महासिद्धने शिष्योंके आग्रहपर सहसा कह दिया और सब चौंक उठे। इस ओर महासिद्धका ध्यान नहीं था। वे कह रहे थे—'वह जहाँका है, पहुँच गया वहाँ। धन्य हो गया वह।'

'कन्हपा अपने कुलके नहीं हैं?' शिष्य कुछ समझ नहीं सके। महापुरुषोंमें सङ्कीर्णता, पक्षपात और अहंता-ममताका आग्रह नहीं होता। महासिद्ध अनेक बार अपने समीप आये साधनोत्सुक, विरक्त, संयमीको भी कह देते

हैं—'भाई, तुम अधिकारी तो हो ; किंतु इस कुलके नहीं हो। तुम जिस घरके हो, वहाँ जानेसे तुम्हारी उन्नति शीघ्र होगी।'

प्रायः महासिद्ध ऐसे साधकको बतला देते हैं कि उसे कहाँ किस महापुरुषके समीप जाना चाहिए। यह बात उनके शरणागत साधक समझते हैं। लेकिन महासिद्धके शरणागतोंमें जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जो योगसिद्ध हैं, वे कन्हपा ही इस कुलके नहीं हैं, यह बात क्या समझमें आने योग्य है ?

यह उलझन बहुत समयतक चली नहीं। दूसरे ही दिन कन्हपाने आश्रममें प्रवेश किया। इतना विवर्ण मुख, पीत एवं शुष्क देह, बिखरी जटाएँ—कन्हपाके गुरुभाई ही नहीं, दूसरे लोग भी उन्हें देखकर आश्चर्यमें पड़ गये। कौन-सा रोग, कौन-सा शोक है जो इस तेजस्वी योगसिद्धको भी इस दशामें पहुँचा सकता है ?

'देव ! दया !' आर्तनाद करते महासिद्धके चरणोंमें कन्हपा गिरे थे और बच्चेके समान क्रन्दन कर रहे थे। उन्होंने दूसरोंकी ओर देखातक नहीं था।

'वत्स !' महासिद्धका गद्‌गद स्वर आज ही सुनायी पड़ा था। उनके कर अपने प्रिय शिष्यकी जटाओं और पीठपर फिर रहे थे। वात्सल्य उमड़ पड़ा था आज सरहपाके नेत्रोंमें।

'मुझे क्या हो गया है ? मैं क्यों स्थिर बैठ नहीं पाता ? तथागतकी श्रीमूर्ति क्यों मेरे चित्तमें प्रकट नहीं होती ?

मैंने क्या अपराध किया है ? किया भी है तो उसका परिमार्जन क्या आप भी नहीं करेंगे ?' शब्द अस्पष्ट, गद्गद वाणीमें, हिचक-हिचककर बोले जा रहे थे—'यह नवघन सुन्दर कौन है जो भीतर और बाहर सदा मुसकराता दीखता है ? मुझे समाधि नहीं चाहिए ! निर्वाण मेरा इष्ट नहीं रहा ; किंतु इस पीतवसनके बिना मैं मर जाऊँगा । यह मिलकर भी नहीं मिलता लगनेवाला, यह नित्य सम्मुख होकर भी अदृश्य अप्राप्य—यह मेरे मनको—प्राणोंको मथ रहा है । इसे मैं कैसे पाऊँ ? आप इतनी कृपा क्या मुझपर नहीं करेंगे ? आप सर्वसमर्थ हैं—…।'

'मैं जो कर सकता था, मैंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया वत्स !' महासिद्ध भी भर्राये कण्ठसे बोले—'साधना जितना विशुद्ध तुम्हें कर सकती थी, कर चुकी । सफल हुई तुम्हारी साधना और तुम्हारी शिष्यताने मुझे गौरवान्वित किया । साधनकी सिद्धि है सहज प्रेमकी उपलब्धि ।'

'तुम जिसके हो, उसने तुम्हें अपना लिया है ।' कुछ क्षण रुककर स्थिरकण्ठ महासिद्ध बोले—'इसमें व्यथित होनेकी कोई बात नहीं है । तुम इस कुलके नहीं हो, यह मैं प्रारंभसे जानता हूँ ; किंतु अन्तःकी शुद्धिके लिए तुम्हें हमारे साधन-मार्गसे जाना था । लक्ष्यपर जाकर मार्ग छूटनेकी चिन्ता नहीं पाली जाती । मैं प्रसन्नतापूर्वक आज तुम्हें विदा करनेको उत्सुक हूँ ।'

× × ×

उन दिनों व्रजभूमिमें नगर नहीं थे। जहाँ-तहाँ छोटे ग्राम और वन। कहते हैं कि उन वनोंमें बहुत कालतक एक जटाधारी तेजस्वी घूमता देखा जाता था। कभी ग्वारियोंसे रोटी-छाछ वह अवश्य ले लेता था, परन्तु किसीके घर भिक्षा करते उसे किसीने नहीं देखा। जैसे यह पता नहीं कि वह कब कहाँसे आया, वैसे ही वह एकाएक अदृश्य भी हो गया।

समता

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

(गीता २।१३)

'अघोरनाथ ! साधुता व्यर्थ है यदि वह स्वार्थ-कलुषित हो ।' गुरुदेवने दीक्षा देनेके दिन ही कहा था । आज उनके वचनोंका स्मरण आ रहा है—'यश, ऐश्वर्य तथा भोग तो प्रत्येक संसारासक्त चाहता है । सिद्धियाँ तुझे और क्या देंगी ? मठ, मन्दिर तथा लोकप्रशंसा—साधु-सम्प्रदायमें वह जो घोर सांसारिकता आ गयी है, उसे अपनाकर मुझे लज्जित मत करना । गृह-परिवार आदिका ही यह दूसरा रूप है । कामकलुषित, शास्त्रवर्जित घृण्य रूप । तुझसे मुझे आशा है—व्यक्तित्वके पोषणसे ऊपर उठना वत्स !'

'अपनी ही मुक्तिकी चिन्ता—यह भी तो व्यक्तित्वका ही चिन्तन है । स्वार्थ ही तो है यह ।' अघोरनाथ आज यह सोचने लगे हैं । क्षीणकाय, अपरिग्रहशील, तपोनिरत अघोरनाथने अबतक ऐसा कुछ नहीं किया है, जिससे यह कहा जा सके कि गुरुदेवके दीक्षाकालीन उपदेशको वे

कभी भूले हैं। उनकी कठोर तपस्या, घोर वनमें एकान्त साधना एवं लोकनिरपेक्षताको देखते ही सबके मस्तक उनके सामने झुक जाते हैं।

'छिः!' सच्चे योग-साधकके सम्मुख सिद्धियाँ आती ही हैं। अघोरनाथके सम्मुख अनेक रूपोंमें वे आयीं और बार-बार आयीं; किंतु उन्होंने तत्काल झिड़क दिया उन्हें। जैसे कोई घावभरे खजुलाहे कुत्तेको झिड़क देता है।

'शिवस्वरूप गुरु गोरखनाथ अमर हैं। उन्होंने कालके पद अवरुद्ध कर दिये हैं। रसेश्वर-सिद्धिने उन्हें यह सामर्थ्य प्रदान की।' नाथ-सम्प्रदायमें जो जनश्रुतियाँ हैं, अघोरनाथने भी सुनी हैं और उनपर श्रद्धा की है। आज इस श्रवणने चित्तको एक नवीन सङ्कल्प दिया—'जरा-मरण-भयातुर, रोग-शोक-संत्रस्त, काम-क्रोध-लोभ-निष्पीड़ित मानवसमुदाय अपनी इन असह्य पीड़ाओंसे परित्राण पा जाय यदि रसेश्वरका सिद्धयोग सर्वसुलभ हो। लोक-मङ्गलके इस अनुष्ठानमें आत्माहुति देनेमें भी श्रेय है।'

मनुष्य महान् नहीं है। दैहिक बल, बुद्धि, धन अथवा तप उसे महान् नहीं बनाता। महत्सङ्कल्प मनुष्यको महान् बनाता है। जो अपने सङ्कल्पके प्रति सच्चा है और उसका सङ्कल्प स्वार्थ-दूषित नहीं है तो समष्टि स्वयं उसको सुयोग प्रदान करती है। महत्सङ्कल्पके लिए महान् श्रमकी शक्ति, साहस तथा अनुकूल योग अपने-आप उपस्थित होते हैं।

अघोरनाथका सङ्कल्प महान् था और अपने संकल्पके प्रति उनकी स्थिरप्रतिष्ठ निष्ठा थी। रसेश्वरके स्वरूप, उसकी मृत, मूर्छित, विद्ध आदि अवस्थाएँ तथा उनके सम्बन्धमें अन्य आवश्यक विवरण उन्हें अल्पकालमें ही प्राप्त हो गये। ऐसे अनेक विवरण उन्हें मिले, जिनकी प्राप्ति ही किसी रससाधकके पूरे जीवनकी साधनाका परिणाम कहा जा सकता था।

× × ×

विशुद्ध विप्रवर्गीय पारद—कृष्ण, पीत एवं अरुणिमासे सर्वथा शून्य शुभ्र चन्द्रोज्ज्वल रस धरामें अपने-आप उपलब्ध नहीं होता। अनेक अनुष्ठानोंके उपरान्त मंत्रपूत साधक मरुस्थलके मानववर्जित प्रदेशके प्राणि-पद-स्पर्शहीन पवित्र सिकता-कणोंसे उसे तब कण-कणके रूपमें प्राप्त कर सकता है, जब ग्रीष्मके मध्याह्नमें धरागर्भसे रसेश्वरके कण ऊपर उठते हैं।

अपनेको अग्निमें आहुति देनेके समान अनुष्ठान है यह। मरुस्थलकी प्रचण्ड ऊष्मा, जल-विहीन धरा और उसमें अनेक योजन लक्ष्यहीन भटकती यात्रामें—राशि-राशि उड़ती बालुकामें अल्पतम कणोंका अन्वेषण; किंतु अघोरनाथको यह दुष्कर नहीं लगा। उन्होंने शुद्ध विप्रवर्गीय पारद प्राप्त किया और पर्याप्त मात्रामें प्राप्त किया।

विशुद्ध पारद—भगवान् धूर्जटिके श्रीअङ्गका सार-सर्वस्व। वह जिसे उपलब्ध हो गया, देव-जगत् उसका

सम्मान करनेको विवश है। यमकी चर्चा व्यर्थ है, उद्धत चामुण्डा तथा अपना ही रक्तपान करनेवाली छिन्नमस्ता तक उस महाभागके सम्मुख संयमित हो जाती हैं। योगिनी, यक्ष-रक्षः-पिशाच उसकी छायाका स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं। स्वयं विशुद्ध पारदकी उपलब्धि अपने आपमें महती सिद्धि है। किन्तु अघोरनाथके महत्तम संकल्पकी शक्तिके सम्मुख तो इसकी कोई गणना नहीं है।

सिद्धभूमि आवश्यक थी। कामाख्या और हिंगलाज स्मरण आये। भगवती महामाया ही तो सिद्धरसकी साधनामें व्याघात उपस्थित करती हैं। इस विचारने अघोरनाथको जालंधर पीठपर भी स्थिर नहीं होने दिया। त्रिपुरभैरवी प्रसन्न न हों, कोई सफलता किसीको मिला नहीं करती। उनके अङ्कका आश्रय अपेक्षित है रस-साधकको।

'भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी छाया जो स्फटिक शुभ्र-विग्रह वृषभध्वजके श्रीविग्रहमें पड़ती है, भस्मभूषिताङ्ग शिवके वक्षमें वह किञ्चित् श्याम प्रतीत होनेवाला प्रतिविम्ब ही भगवती त्रिपुरभैरवी हैं।' अघोरनाथने अपने सम्प्रदायके एक सन्तसे कभी यह विवरण सुना था। साधनास्थल चुननेमें इस श्रवणने उनकी सहायता की।

'भगवान् नीलकण्ठके विशद वक्षमें भगवतीका प्रतिविम्ब अर्थात् शक्तिसमन्वित पुरुष—अर्धनारीश्वरकी सौम्य क्रीड़ास्थली !' अघोरनाथने व्यास-पार्वती सरिताओंकी मध्यमूमि त्रिकोण सिद्धक्षेत्र कुलान्तमें भी

सुदूर हिमक्षेत्रमें पार्वतीके उद्गमस्थानको उपयुक्त माना।

चतुर्दिक् हिमश्वेत शिखर, सत्त्वगुण मानो सर्वत्र साकार हो रहा है। पार्वतीके उद्गमका अल्प प्रवाह और उसे अंकमाल देता उष्णोदक निर्झर—भगवान् उमा-महेश्वरका व्यक्त विग्रह प्रकृतिमें वहाँ जलरूप है। योगसिद्ध तपस्वी अघोरनाथको आहारकी अल्पतम अपेक्षा होती है। जब आवश्यक हो, वे कुछ नीचे आकर वन्य कन्द-मूल सहज प्राप्त कर लेते हैं।

'विश्वके प्राणी जरा-मृत्यु, शोक-रोगसे परित्राण प्राप्त करें।' शरीरकी स्मृति नहीं। क्षुधा-पिपासाकी चिन्ताएँ बहुत पीछे छूट चुकी हैं। कटिमें कौपीन और फटे कानोंमें मुद्रा, जलपात्रतक रखना जिस तापसने त्याग दिया है, वह बड़ी-सी झोलीमें ओषधियाँ, खरल तथा अनेक बस्तुओंका परिग्रह लिए इस एकान्त हिमप्रदेशमें आ बैठा है। एक ही व्यथा है उसे—'प्राणियोंकी व्यथा दूर हो।'

'कहाँ त्रुटि है? क्या भूल हो रही है मुझसे?' अघोरनाथ लगे हैं पूरे छः महीनेसे। आज शरच्चन्द्रिकाका भी योग आ गया, किंतु रसेश्वर अनुविद्ध क्यों नहीं होते? पारद मूर्छित हो जाता है। गुटिका बन जाती है। तापसहिष्णु भी हो गया है। सब हुआ; किंतु वह अनुविद्ध नहीं हो रहा है। परीक्षण-प्रक्रियाओंमें पड़कर वह पुनः सक्रिय, सप्राण हो उठता है। अघोरनाथने आसन

स्थिर किया और गुरुदेवके पादपल्लवोंमें चित्तको एकाग्र करके वे ध्यानस्थ हो गये।

× × ×

शुभ्र ज्योत्स्ना घनीभूत होकर जैसे शरीर बन गयी हो। धराका स्पर्श बिना किये भी सम्मुख सुप्रसन्न स्थित वह भव्य तपोमय श्रीविग्रह। पिंगल जटाभारसे विद्युन्मालाका भ्रम सहज हो सकता था। कर्णमें मुद्रा होनेसे अनुमान होता था कि वे देवता नहीं, कोई योगीश्वर हैं।

चाहते हुए भी अघोरनाथ नेत्र-पलक खोलनेमें समर्थ नहीं हो रहे थे। उनका कोई अङ्ग किञ्चित् गति करनेकी शक्तिसे भी रहित जान पड़ा; किंतु नेत्र-पलक खुले हों, इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन वे उन तेजोमयका कर रहे थे। मन-ही-मन चरण-बन्दन कर लिया उन्होंने।

'वत्स ! किसी समय यही इच्छा इस गोरखनाथकी भी हुई थी।' अत्यन्त स्नेहस्निग्ध, किंतु तनिक खिन्न स्वर था—'गोरख मिट जाता, अपने अमरत्वकी अभिलाषा कहाँ की थी मैंने। मुझे तो रससिद्ध हो जानेके पश्चात् पता लगा कि कालकी कृष्ण यवनिकामें मेरे लिए अमरका यह छिद्र भी भगवती महामायाका पूर्व सङ्कल्पित विधान ही था। उनका सङ्कल्प अमोघ है। उनके लीला-विलासमें व्याघात उपस्थित किया नहीं जा सकता। मैं समझता था, कालके पदोंको रुद्ध करनेका साधन मुझे मिल गया है; किंतु भ्रम सिद्ध हुआ वह

मेरा। मुझे भविष्यके साधकोंको संरक्षण एवं प्रकाश प्रदान करनेके लिए महामायाने सुरक्षित मात्र किया है।'

'धन्य हो गया जीवन। जन्म-जन्मकी साधना सफल हुई। साक्षात् शिवस्वरूप गुरु गोरखनाथने दर्शन देकर कृतार्थ किया मुझे।' अघोरनाथका देह भले निष्कम्प हो, उनका चित्त विह्वल हो रहा था। अनन्त भावनाओंका उद्रेक अन्तःकरणमें एक साथ उठ रहा था।

'भगवान् महाकालकी गति अवरुद्ध नहीं हुआ करती। उनकी गतिको रुद्ध करनेके साधन हैं; किंतु वे महामाया-की इच्छासे ही सक्रिय होते हैं।' गुरु कह रहे थे। 'कालके प्रवाहमें वे साधन किन्हीं-किन्हींको सुरक्षित कर देते हैं किसी उद्देश्यविशेषसे।'

'अच्छा समझ लो, तुम सफल ही हो जाते हो।' अघोरनाथके अन्तर्द्वन्द्वको लक्षित करके गुरुने कहा। 'जरा-मृत्यु तथा व्याधिका ही निवारण तो कर सकोगे। भय, शोक, लोभ-मोह तो मनुष्यके मनसे उत्पन्न होते हैं। ये दुःख तो उसके कल्पनाप्रसूत हैं। अमर होनेमात्रसे मनुष्य सुखी कैसे हो जायगा ? तुम्हें लगता नहीं है कि मृत्युसे अभय होकर अजितेन्द्रिय प्राणी अधिक तमोगुणी, विषय-लोलुप संघर्षशील, अधर्माचारी होकर परिणाम-स्वरूप अनन्त कालतक अशान्त, क्षुब्ध और दुखी रहने लगेगा।'

'अनर्थ ! क्षमा करो नाथ !' अचानक अघोरनाथ चीत्कार कर उठे। उनके नेत्र खुल गये। वहाँ कोई दृश्य

नहीं था ; किंतु उस हिमप्रदेशमें भी उनका सम्पूर्ण शरीर स्वेदसे भर उठा था। उसी समय उन्होंने अपनी झोलीका सम्पूर्ण संग्रह पार्वतीके प्रवाहमें विसर्जित कर दिया।

× × ×

'फट गया ! फट गया ! फट गया ! यह कञ्चुक फट गया !' अवधूत अघोरनाथ पुन: उन लोगोंमें आ गये हैं, जो उनसे परिचित हैं। जो साधना-कालसे इस तपस्वीमें श्रद्धा रखते हैं ; किंतु सबको लगता है कि उग्र तपस्या तथा कठिन योग-साधनाने इनके मस्तिष्कको कुछ विकृत कर दिया है। कभी कोई शवयात्रा देखते ही नाचने लगते हैं—'अलख निरञ्जन ! अविनाशी हूँ मैं। अरे मूर्खों ! तुम सब रोते क्यों हो ! मेरा यह कञ्चुक फट गया। अब नया-नया, कोमल-कोमल, नन्हा-नन्हा कञ्चुक पहनूँगा ! अहा, सुन्दर, सुकुमार, छोटा-सा वस्त्र !'

अवधूतोंकी बात वैसे भी समझमें आनी कठिन होती है और अघोरनाथ तो कुछ विक्षिप्त हो गये हैं। वे कभी किसी बच्चेको गोदमें उठा लेते हैं—'अब यह वस्त्र मुझे छोटा पड़ने लगा है। धीरे-धीरे बड़ा वस्त्र बदल लूँगा। क्यों बड़ा वस्त्र ठीक रहेगा !' बच्चेसे ही पूछने लगेंगे।

'बाबा, तेरा यह वस्त्र पुराना हो गया !' एक दिन गाँवके चौधरीका हाथ पकड़कर बोले। 'बहुत सिकुड़नें पड़ गयीं इसमें। फटनेको आ गया यह। अब इसे बदल डालना है।'

'अभी आज ही तो यह कुर्ता-धोती मैंने पहनी है महाराज !' बेचारा चौधरी अपने नवीन वस्त्रोंको देखता और अवधूतके मुखको—'पुराने वस्त्र तो मैंने आज सेवकको दे दिये।'

'अरे नहीं, डरना मत ! यह पुराना वस्त्र महाहवनके काम आयेगा। वस्त्रका क्या, सेवकको दे दे या अग्निमें डाल दे !' अवधूत हँसते रहे—'कुत्ते-शृगाल, कौवे-गीध, मछली-कछुए, असंख्य कीट—अपने कोई दरिद्र हैं कि थोड़से सेवक रक्खेंगे। सम्राट्के लक्ष-लक्ष सेवक !'

किंतु उस दिनसे लोग अवधूतसे डरने लगे हैं। वह चौधरी तीसरे दिन ही मर गया था और अवधूत तब भी ताली बजाकर कूद रहे थे—'महाहवन किया अपने वस्त्रसे मैंने। मेरी लपटें, मेरा वस्त्र और अब मैं रोता हूँ ! अहाहा !'

किंतु अवधूत सदा ऐसे उन्मत्त नहीं रहते। बड़ा स्नेह करते हैं शिशुओंसे। कोई बीमार दीख जाय तो उसके पैरतक दबाने बैठ जायँगे। सिद्ध पुरुष है, एक चुटकी भस्म दे दें तो बड़े-से-बड़ा रोग भाग जाय। अब मस्तिष्क कुछ विक्षिप्त हो गया तो इसका कोई क्या करे। वैसे अपने लिए उन्हें कभी कुछ चाहिए ही नहीं। रोटी दो या हलवा, भूख लगी हो तो प्रेमसे पत्ते भी खा लेते हैं, न लगी हो तो खीर भी फेंक देते हैं—'मैं इस कीचड़का क्या करूँ। उजला लगता है तो तू मुखमें पोत ले ! मैं नहीं पोतता इसे।'

'धन चाहिए ! मुझे भी तो थोड़ा धन चाहिये !' उस दिन ईंटोंके टुकड़े, टूटे शीशे, कंकड़, मिट्टीके डले एकत्र करने लगे और पूरी गलीका कूडा एकत्र कर लिया। बच्चोंने पूछा कि क्या करते हो तो बोले—'सम्पत्ति एकत्र कर रहा हूँ।' फिर भाग खड़े हुए—'सब सम्पत्ति मेरी ! सब कहीं मेरी सम्पत्ति ! सम्पत्ति भी मैं, तुम भी मैं। मैं—अलख ! अलख ! गुरुदेव !'

अब पागलकी चेष्टाकी क्या सङ्गति है। पता नहीं क्या बात है कि गाँवके पण्डितजी कहते हैं—'अघोरनाथ बाबा ही सच्चे ज्ञानी हैं। उनमें पूर्ण समता है। वे तत्त्वदर्शी हैं।' कहीं पण्डितजीका मस्तिष्क भी तो कुछ गड़बड़ नहीं होने लगा है ?'

संगठन

अपने देशके जो सैनिक पिछले दिनों कांगोसे लौटे, उनमें-से एकसे मिलनेका अवसर मुझे मिला है। एक यात्रामें रेलकी दूसरी श्रेणीके डिब्बेमें हम दोनों बैठे थे। मेरा स्वभाव परिचय पूछनेका नहीं है। मैंने पूछा नहीं; किंतु मेरे बिना पूछे उस सैनिकने जो कुछ बताया, उतना मुझे ज्ञात है। उसका नाम तथा पता भी उसने बताया था। वह सब मैं भूल गया। बातोंके चलते उसने कुछ कागज मुझे दिखाये। उन कागजोंमें कुछ ऐसी बातें थीं कि मेरी रुचि हो गयी उनमें और अपने सहयात्रीकी अनुमतिसे मैंने कागजोंकी प्रतिलिपि कर ली।

उस सैनिकका कहना था कि काँगोंके अपने काममें उसे एक बार उस देशके मध्यभागमें जाना पड़ा था। वहाँ एक छोटा-सा पक्का बङ्गला उसे ठहरनेको दिया गया। उस घोर वन्यप्रदेशमें वह अकेला पक्का मकान था। जो भारतीय टुकड़ीका कई दिन सैनिक शिविर बना रहा। उस बङ्गलेकी दशा ऐसी थी, जैसे उसमें वर्षोंसे कोई रहा न हो। भारतीय सैनिकोंने ही उसे स्वच्छ किया। इस सफाईमें एक डायरी मिली। डायरी फ्रेंचमें लिखी गई थी उसमें बीचमें बहुत-से पृष्ठ कोरे थे।

उस डायरीको वहाँसे लौटनेके पश्चात् सैनिकने एक संयुक्त राष्ट्र संघके कर्मचारीको दिखाया। डायरीको उन्होंने रख लिया ; किंतु सैनिकके अनुरोधपर डायरीका अंग्रेजी अनुवाद करके उन्होंने उसे दे दिया। मुझे जो कागज देखनेको मिले, वे उस अंग्रेजी अनुवादका हिंदी भाषान्तर था। इसमें हिंदी करनेवालेने कहीं-कहीं अपनी टिप्पणी भी सम्मिलित कर दी है। मैं उसीको यहाँ अद्धृत कर रहा हूँ; क्योंकि मुझे देश तथा समाजके लिये इस डायरी-लेखककी बातें उद्बोधक लगती हैं। डायरी पहली अप्रैलसे प्रारम्भ होती है।

१ अप्रैल—आज यहाँ मूर्खता-दिवस मनाया जा रहा है। कोई मुझे भी मूर्ख बना सकता है ; किंतु मैं तो स्वयं मूर्ख बन गया हूँ। वैसे इङ्गलैण्डके लोग सभ्य हैं। एक विदेशीके साथ बड़ा विनम्र व्यवहार करते हैं। पराजित फ्रांसके नागरिक होनेके नाते मेरे साथ प्रायः सभी सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। पराजित फ्रांस—हृदय जैसे सोचते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। हमारी मेगनो लाइन कागजकी किलेबंदी सिद्ध हुई। हिटलरके एक धक्केने—लेकिन हिटलरने उसे धक्क कहाँ दिया, उसे तो स्वदेशके पञ्चमार्गियोंने परास्त किया। आपसकी फूट, दलबंदी सत्ता हथिया लेनेका लोभ और स्वार्थीजनोंका विश्वासघात फ्रांसको ले डूबा। लेकिन फ्रांस अजेय है। फ्रांस विजयी होगा अन्तमें फ्रांस अमर रहे।

२ अप्रैल—थोड़ी अंग्रेजी जानना मेरे बहुत लाभका सिद्ध हुआ। अच्छा ही हुआ कि जब जर्मन सेनाएँ फ्रांसमें

प्रवेश कर रही थीं, मैं यहाँ निकल आया। स्पेन होकर न आता तो क्या जर्मन खूँखार कुत्तोंसे बच पाता। लेकिन यहाँ बैठे रहना व्यर्थ है। आह! सिर बहुत दर्द कर रहा है। भागते समय बमसे उड़ा जो छोटा टुकड़ा सिरमें लगा था, उसका प्रभाव अबतक गया नहीं है। मस्तिष्क घूमता रहता है। अद्भुत विचार मनमें आते हैं। मैं पागल तो नहीं होने जा रहा हूँ?

३ अप्रैल—नहीं, ब्रिटेन मेरी सहायता नहीं कर सकता। हिटलरके दारुण अत्याचारका स्वयं यह देश आखेट हो रहा है। हिटलरके पास शैतानकी शक्ति है। उसे पराजित करनेके लिए कोई अलौकिक उपाय चाहिये। मैं अपने देशके लिए क्या कुछ नहीं कर सकता हूँ?

४ अप्रैल—कल डायरीमें मैं यह अलौकिक उपायकी बात क्या लिख गया? अलौकिक उपाय सम्भव है क्या? सुना तो है कि भारतके योगियोंको ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। भारत अभी स्वयं पराधीन है। ऐसी शक्ति होती हो तो देश पराधीन क्यों रहे? किंतु योगी, सुना है कि संसारसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखते। कुछ भी हो एक बार भारत जाकर प्रयत्न करना है। यहाँ पड़े-पड़े भी तो मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ।

५ अप्रैल—आज बहुत दौड़-धूप की है। ब्रिटेनका इण्डिया हाउस कहता है—'इन सङ्कटके दिनोंमें भारत-यात्राकी शीघ्र व्यवस्था वह नहीं कर सकता।' लेकिन

यहाँका उपनिवेश विभाग कहता है कि मेरे दक्षिण अफ्रीकाके उपनिवेशोंमें जानेकी व्यवस्था वह इसी सप्ताह कर सकता है। वहाँसे भारत जाना अधिक निरापद होगा और वहाँसे सुविधा भी शीघ्र हो जायगी। अफ्रीका सही, मैं अब यहाँ रहते-रहते ऊब गया हूँ। कहीं भी जाऊँ, इतना सन्तोष तो रहेगा कि कुछ प्रयत्न कर रहा हूँ।

इसके आगे बहुत दिनोंका विवरण नहीं था। पता नहीं, वह डायरीमें था ही नहीं, या अनुवादकोंमें किसीने छोड़ दिया था। ग्रागे विवरण इस प्रकार प्रारम्भ होता है।

२६ जून—भूमध्य-रेखापर स्थित यह प्रदेश इतना उष्ण है कि मुझे लगता है, जलती भट्ठीमें डाल दिया गया होऊँ। दिन डूबनेके बाद भी गर्मी बहुत रहती है। दिनमें तो कहीं बाहर जाना सम्भव ही नहीं है। यहांके शासक बहुत सज्जन हैं। उन्होंने बताया है कि कोई भारतीय साधु इन दिनों यहीं इस उपनिवेशकी राजधानीमें हैं। भारत जानेसे पहले उनसे मिलकर आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेना अच्छा होगा।

२७ जून—घुटा सिर, लाल कपड़ेमें लिपटा शरीर—पहली बार एक भारतीय साधुसे मिला हूँ। मैं पहुँचा ही तब; जब उनका प्रवचन चल रहा था। अपने पल्ले उपदेशकी कोई बात नहीं पड़ी। मुझे उपदेश चाहिए भी नहीं। मुझे तो अपने देशके शत्रुओंका विनाश करनेका उपाय चाहिये। कल सवेरे आठ बजे साधुने समय दिया

है। देखूँगा कि वह मुझे कोई उपयोगी सूचना दे पाता है अथवा नहीं।

२८ जून—रातसे ही वर्षा हो रही है। वर्षामें ही गाड़ी करके साधुके यहाँ गया। अच्छा आदमी है वह। खूब फर्राटेकी अंग्रेजी बोलता है। मैं समझ तो लेता हूँ; पर अच्छी अंग्रेजी बोल नहीं पाता। लेकिन उसे बीच-बीचमें अपनी भाषा (सम्भवतः संस्कृत) के पद्य [श्लोक] बोलनेका व्यसन है। मेरी बात उसने बहुत ध्यानसे सुनी। लेकिन आजका समय तो उसने मुझे समझानेमें व्यर्थ नष्ट कर दिया। ये भारतके लोग कैसे हैं? देश पराधीन है और इन्हें धर्म एवं ईश्वरकी चिन्ता ही लगी है। ये तो सन्तोषका पाठ ही मुझे भी पढ़ाना चाहते हैं। किंतु यह साधु अच्छा है। इससे अपने कामकी सूचना पानेकी आशा मुझे है। कल फिर मिलूँगा।

२९ जून—आज भारतीय साधुने मुझे दो घण्टे समय दिया। वह पता नहीं, मनुष्यके क्या चार लक्ष्य बताता है और उसमें चौथेको ही सबसे बड़ा कहता है। उसका कहना है कि चौथेको समूहमें, समाजमें नहीं पाया जा सकता। केवल वही व्यक्तिका अकेले चलनेका मार्ग है। भारतके योगी उसीको श्रेष्ठ मानते हैं। उसीपर चलते और दूसरोंको चलाते हैं। योगियोंके पास जाकर भी कोई संसारकी वस्तु माँगना अच्छा नहीं। ऐसा करनेवालेको वे अपने पास टिकने नहीं देते। तब मेरे लिए भारत जाना व्यर्थ रहेगा। मुझे कोई और उपाय सोचना होगा।

लेकिन इस साधुसे एक बार और मिलकर पूरा स्पष्टीकरण कर लेना है।

अनुवादककी टिप्पणी—अर्थ, धर्म काम और मोक्ष—ये चार ही मनुष्यके पुरुषार्थ हैं। इनमें परम पुरुषार्थ मनुष्यका मोक्ष ही है और मोक्ष अन्तर्मुख होनेपर प्राप्त होता है। अतएव मोक्षका साधन सामूहिक नहीं हो सकता। व्यक्तिके लिए अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह साधन पृथक्-पृथक् होगा तथा सर्वथा वैयक्तिक होगा।

३० जून—भारतीय साधु कहता है—धर्म, धन और भोग— ये तीनों बातें मनुष्यको सामाजिक प्राणी बनाती हैं। इनकी उन्नति एवं सुरक्षा समाजके सुदृढ़ सङ्गठन तथा परस्पर सहयोगसे ही सम्भव रहती है। समाजके सदस्य पूरे समाजके लिए अपना सर्वस्व तथा प्राण देनेको उद्यत रहें, तभी समाजके सब सदस्योंकी स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी। जहाँ स्वार्थ, दलबंदी, पदलिप्सा फैली है, वहाँ स्वाधीनताका भी कुछ अधिक अर्थ नहीं है। वहाँ दुर्बल निरन्तर उत्पीड़ित होते रहेंगे और सबल भी सशङ्क ही रहेंगे कि दूसरे उन्हें पदच्युत न कर दें। मैं ग्राज इस साधुके उपदेशसे ऊब गया हूँ। यह दूसरेकी उत्सुकताकी चिन्ता किये बिना अपनी ही बात कहता जाता है। अब भारत जाना व्यर्थ लगता है। कौन जाने कितने इसी प्रकारके उपदेश देनेवाले साधु वहाँ मिलेंगे। इन लोगोंको देशकी ही चिन्ता होती तो क्या इनका अपना देश आजतक पराधीन होता ?

१ जुलाई—आज एक नवीन बातका मेरे यहाँ काम करनेवाले हब्शीसे पता लगा है। अफ्रीकाके घने वनमें बसनेवाले लोग बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ जानते हैं। उन्हें ऐसे-ऐसे विष ज्ञात हैं कि अग्निमें उसे डाल दो तो जिधर वायु चले, उधरके प्राणी प्राणशून्य हो जायँगे। वे लोग रोग फैला सकते हैं। वे अग्नि और वर्षाके वेगको बाँध सकते हैं। अपने शत्रुओंको केवल जादूसे वे नष्ट कर देते हैं। लेकिन ये अशिक्षित जङ्गली, पता नहीं, कितनी बातें मिथ्या विश्वासके आधारपर कहते हैं। इस हब्शीकी बातोंमें कितनी ठीक हैं, कहा नहीं जा सकता।

२ जुलाई—यहाँका अंग्रेज कलक्टर तनिक भी चकित नहीं हुआ, जब मैंने उसे अपने हब्शी नौकरकी बातें बतलायीं। वह कहता है कि उसने भी ऐसी बातें बहुत सुनी हैं। उसका विश्वास है कि इन बातोंमें बहुत अधिक सच्ची हैं। कुछ थोड़ी बातें झूठी हो सकती हैं। लेकिन ये जङ्गली लोग किसी बाहरके व्यक्तिको अपनी कोई जड़ी-बूटी बतलाते नहीं। मन्त्र-तन्त्र तो ये अपने लोगोंको भी नहीं सिखलाते, केवल जातिका मुखिया उसे जानता है। इसीके साथ, ये अत्यन्त निर्दय हैं। किसीको मार देना इनके लिये साधारण बात है। अब भी भीतरी अफ्रीकाके वनोंमें मनुष्यभोजी जातियाँ हैं।

यहाँ फिर पर्याप्त समयतक डायरीके उद्धरण नहीं हैं।

५ अक्टूबर—बेल्जियम कांगोके अधिकारी भी मेरी ही भाँति हिटलरसे क्रुद्ध हैं। इनके देशको भी तो

नाजियोंके बूटोंने रौंद रक्खा है। मेरे साथ यहाँके अधिकारियोंकी पूरी सहानुभूति है; किंतु जिससे कहता हूँ, वही मुझे हतोत्साहित करता है। मध्य कांगोमें, बौने लोगोंके मध्य मैं जाना चाहता हूँ, यह सुनते ही सब चौंकते हैं। इस प्रदेशके सात फुट ऊँचे दैत्याकार लोगोंमें भी अबतक कोई मेरा मार्गदर्शक बननेको प्रस्तुत नहीं है। अन्ततः बौने क्यों इतने दुर्धर्ष हैं? मुझे वही युक्ति तो चाहिये? मृत्युके भयसे मैं रुक जाऊँ तो मेरा अबतकका सब उद्योग ही व्यर्थ है।

६ अक्टूबर—परमात्मा दृढ़ संकल्पका साथी है। मेरा साईस आज रातमें एक व्यक्तिको मेरे पास ले आया। देखनेमें वह बड़ा भयानक लगता था। उसके नेत्र हिंसक पशुओं-जैसे लाल थे। मोटे ओठ, घुंघराले केश, बढ़े नख, नङ्गा शरीर—यह सब तो यहाँ साधारण बात है। मैं अब इस दृश्यका अभ्यस्त हो चुका हूँ। वह व्यक्ति सरकारद्वारा घोषित अपराधी है। उसे वैसे भी अपनी जीवन-रक्षाके लिए भीतरी वनमें रहना है। मेरा नौकर कहता है कि उसका वनमें रहनेवाली जातियोंमें बहुत सम्मान है। क्या वह विश्वसनीय है? वह कहीं 'माऊ-माऊ'का सदस्य या नेता तो नहीं है?

७ अक्टूबर—मैं आज रात्रिमें परमात्माका नाम लेकर चल रहा हूँ। रात्रिमें इसलिए कि दिनमें मेरा मार्गदर्शक प्रत्यक्ष किसीके सामने आना नहीं चाहता। मैं भी यहाँसे छिपकर ही निकल जाना पसन्द करता हूँ।

पता लगनेपर स्थानीय अधिकारी मुझे वनमें जानेकी अनुमति नहीं देंगे।

आगे विवरण बहुत लम्बे समयतक नहीं है और अन्तमें जो कुछ है, उसे उपसंहार ही कहा जाना चाहिए; क्योंकि उसके बाद इस डायरीके लेखकका क्या हुआ, यह कुछ पता नहीं है। सैनिकने बताया कि या तो उसे बौनोंने मार डाला, अथवा किसी हिंस्र पशुका वह आखेट हो गया। कांगोमें किसीके प्राणोंका ऐसा मूल्य नहीं है कि वह न मिले तो उसका अन्वेषण किया जाय। कोई करना भी चाहे तो अगम्य वनोंके कारण ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। डायरीका यह अन्तिम भाग बिना किसी तिथिके ही प्रारम्भ हुआ है।

—मुझे पता नहीं है कि आज कौन-सी तारीख है। तारीखका पता लगानेका कोई साधन भी नहीं है। कितने दिन मूर्छित रहा हूँ, यह भी मुझे पता नहीं है। स्मृति ठीक काम नहीं कर रही है। मस्तिष्कमें जैसे हथौड़े चल रहे हैं। इस समय जो कुछ स्मरण आ रहा है, वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ। वह क्रमशः ही लिखा जायगा, इसका आश्वासन मुझे अपने-आप भी नहीं है।

मैं अधिक भीतर जाना चाहता था वनमें; किंतु मौसम अनुकूल होनेकी प्रतीक्षा करना आवश्यक था। मेरा मार्गदर्शक सचमुच अनेक जङ्गली जातियोंमें सम्मानित था। वह मेरा गुरु बन गया। उससे केवल ओष्ठ हिलाकर बातचीत करना सीखनेमें मुझे दो महीने

लगे। इसके बिना इन जङ्गली लोगोंके मध्य रहना असम्भव है। इनमें प्रत्येक जातिकी पृथक् भाषा है; किंतु मूक रहकर ओष्ठ हिलानेकी भाषा तो सब समझते हैं। मुझे वन-पशुओंके स्वभाव तथा उनसे बचनेकी युक्तियोंका भी बहुत कुछ ज्ञान अपने मार्गदर्शकसे ही हुआ है। उसने थोड़ी जड़ी-बूटियाँ भी बतायी हैं।

मेरा मार्गदर्शक भी आगे साथ नहीं देता। वह भी मुझे बौनोंके प्रदेशमें जाने नहीं देना चाहता था। लेकिन मैं केवल फूसकी झोपड़ीमें यहाँ घोर वनमें जीवन व्यतीत करने तो नहीं आया था। मैं आगे जाता ही, लेकिन ईश्वरको जब वह स्वीकार होता तब तो…।

उस दिन मेरा मार्गदर्शक भी कहीं चला गया था। मैं जङ्गली लकड़ीसे एक मजबूत छड़ी बनानेमें लगा था। अचानक लगा कि आँधी आ रही है। दृष्टि दौड़ानेपर भी किसी ओर वृक्ष हिलते नहीं दीखे। मैं सोचने लगा कि यह शब्द कैसा आ रहा है। सहसा चार-पाँच चींटियाँ मुझे दिखायी पड़ीं और मेरे प्राण सूख गये। ये साधारण चींटियोंसे भिन्न चींटियाँ हैं। इनके सम्बन्धमें मैंने जङ्गली लोगोंसे बहुत सुना है। कई फर्लांग मार्ग घेरकर जब इनकी असंख्य सेना निकलती है, मार्गमें पड़नेवाले वृक्षतक ये चाट जाती हैं। मनुष्य, पशु अथवा ऐसा कोई पदार्थ जो ये खा सकती हैं, बचता नहीं। अवश्य आज इनका अभियान इधर हुआ है। इनके दलके चलनेका शब्द आ रहा है। वे उस दलकी जासूस चींटियाँ हैं। आगे मार्ग कैसा है, इसका पता दलको देते रहना इनका काम है।

ये जासूस चींटियाँ खड़ी हो गयी थीं। इधर-उधर मूँछ हिलाकर कुछ सूँघ रही थीं। मैंने कमरसे चमड़ेकी पेटी खोलकर उनमें-से चारको मार दिया। एक सम्भवतः बच गयी और भाग निकली। अवश्य वह मेरी दृष्टिको धोखा दे गयी थी। मैंने दौड़कर पहला काम यह किया कि अपने घोड़ेको खोल दिया। पशु मनुष्यकी अपेक्षा विपत्तिका आभास पहले पा लेते हैं। छूटते ही घोड़ा तीरकी भाँति एक ओर भाग गया। उसने इतना भी अवसर मुझे नहीं दिया कि मैं उसकी पीठपर जीन डालकर बैठ पाता।

मेरा कुत्ता देरसे भूँक रहा था। अबतक मैंने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। कुत्तेको भी मैंने जंजीरसे मुक्त कर दिया। लेकिन यह स्वामीभक्त प्राणी मेरे आस-पास ही घूमता और भूँकता रहा। पता नहीं उसकी क्या दशा हुई होगी।

इतनेमें मेरे कानके पास भयङ्कर वेदना हुई। जैसे किसीने सुई चुभा दी हो। हाथ वहाँ गया और एक चींटी मसल गयी। यह पहली चोट मुझपर थी। मैं इससे सँभलूँ, तबतक तो मुख, पीठ, हाथ—लगभग पूरे शरीरमें सुइयाँ चुभने लगीं। चमड़ेकी पेटी मैंने पटकना प्रारम्भ किया; किंतु शीघ्र समझ आ गयी। जहाँतक मैं देख सकता था, केवल चींटियाँ-ही-चिटियाँ थीं। भूमि, दरवाजा, खम्भे सर्वत्र चींटियाँ लदी थीं। सब कुछ काला हो गया था। मैं पेटी फेंककर भागा। दोनों हाथोंसे कपड़े उतारता, फेंकता शरीर पीटता मैं

चींटियोंके झुंडोंको रौंदता प्राण बचानेके लिए पूरे वेगसे भागा जा रहा था।

मेरे शरीरका प्रत्येक भाग चींटियोंसे ढक चुका था। शरीरका एक-एक रोम उनके दंशनसे बिंध रहा था। कुछ दूर एक दलदल था। और वही मेरी आशाका आधार था। मुझे स्वयं पता नहीं है कि मैं दलदलतक कैसे पहुँचा और कैसे उसके कीचड़ भरे पानीमें गिर गया। कबतक उस जलमें पड़ा रहा, यह भी जाननेका उपाय नहीं है।

मेरा मार्गदर्शक कहता है कि चींटियोंके आक्रमणका पता उसे तब लगा, जब उनका दल मेरी झोंपड़ीको घेरकर आगे बढ़ चुका था। अन्यथा वह जहाँ गया था, उस गाँवमें एक चींटियोंका पुजारी रहता था। वह प्रार्थना करके चींटियोंको मार्ग बदलनेपर विवश कर देता है। उसने अपने गाँवको इसी प्रकार बचाया था। लेकिन मेरी ओरसे वे लोग निराश हो चुके थे।

चींटी-दल रात्रिके मध्यतक वहाँसे जा चुका था। दूसरे दिन मार्गदर्शक कुछ दूसरे लोगोंके साथ आया तो झोंपड़ीका फूसतक वे चींटियाँ चाट गयी थीं। वे लोग तो मेरा कङ्काल ही इधर-उधर ढूंढ़ रहे थे; किंतु मैंने जो वस्त्र फेंके थे, उनके बटन दृष्टि पड़ गये। वस्त्र तो चींटियोंका भोजन हो चुका था। बटनसे अनुमान करके वे लोग दलदलतक पहुँचे।

अब भी मेरे पूरे शरीरमें चेचकके समान गड्ढे हैं। घाव कितने दिनमें अच्छे हुए, कौन जाने। मुझे इस

स्थानपर—इस पक्की कोठरीमें वही लोग ले आये हैं। कभी यह एक पादरीके लिए यहाँके शासकोंने बनवायी थी। उस पादरीको भी चींटियोंने ही खाया था और तबसे फिर कोई इधर आनेका साहस नहीं कर सका।

चलने योग्य हो जाऊँ तो यहाँसे चला जाऊँगा। जो बात उस भारतीय साधुके कहनेसे समझमें नहीं आयी थी, वह चींटियोंने समझा दी। मुझे अब फ्रांस जाना है। शत्रुके उन्मूलनका सूत्र मुझे मिल गया है। वह सूत्र है—सङ्गठन। जो देश, जो समाज ऐसे सदस्य रखता है, जो प्रत्येक सदस्य अपने समाजके लिए आगा-पीछा सोचे बिना आत्मार्पण कर सकें, वही विजयी होगा। उसीको जीवित रहनेका अधिकार है। स्वार्थलोलुप, पदलोलुप, कापुरुष लोगोंका समाज कबतक बना रह सकता है। मेरे देशको सङ्गठन चाहिए—स्वार्थत्यागी, स्वात्मदानी साहसी लोगोंका सङ्गठन।

अनुवादककी अंतमें एक टिप्पणी है—मेरे अपने देशको, अपनी जातिको भी इससे सीखना है। ऐसा सङ्गठन नहीं बनता तो देश एवं समाजकी दुर्दशा दैव भी रोक नहीं सकता।

श्रद्धाकी विजय

'तुम यहां ? इस समय ? इस स्थितिमें ?' दो क्षण स्वर रुका—'घर जाओ ! मेरी ओर मत देखो, घर चले जाओ ! माँ तुम्हारे लिए व्याकुल होगी।'

'वह माँके पास ही जा रहा है !' एक अट्टहास करके भैरव स्वामी बोले—'वह यहाँसे हिल नहीं सकता !'

'मैं कहता हूँ तुम घर जाओ !' सुनन्द पण्डितके लिए जैसे भैरव स्वामीकी वहाँ सत्ता ही नहीं थी। वज्रकाय, सुदीर्घाकार रक्तवसन, जलते नेत्र, सदा हाथमें सिन्दूर-रंजित त्रिशूल लिए रक्त चन्दनका त्रिपुण्ड्र लगाये भैरव स्वामी—वे भैरव स्वामी जिनकी दृष्टिसे मनुष्य तो क्या सिंह भी काँप जाय, इस समय खड्ग उठाये खड़े थे और सुनन्द पण्डित उनकी ओर देखतेतक नहीं थे। उनके लिए जैसे भैरव स्वामी नितान्त उपेक्षणीय थे। अत्यन्त दृढ़ स्वरमें कह रहे थे वे—'माँ कभी सामान्य नहीं होती। वह जगन्माताका स्वरूप है और वह बुलाती है तो तुम्हें कोई रोक कैसे लेगा। जाओ ! माँ बुलाती है तुमको।'

'इसे चामुण्डाने बुलाया है !' भैरव स्वामीने कठोर स्वरमें कहा। 'यह न स्वयं आया है, न जा सकता है।'

'आपकी क्रूरताने बुलाया कहिये !' सुनन्द पण्डितने अब देखा भैरव स्वामीकी ओर और जैसे छोटे बच्चेको झिड़क रहे हों झिड़का—'जगदम्बाके सम्मुख अपनी क्रूरताकी इस विडम्बनाका प्रदर्शन करनेमें आपको लज्जा नहीं आती। आप इसे रोक नहीं सकते ! घर जाओ महादेव !'

तरुण महादेव, स्वस्थ बलिष्ठ पुरुष, अपने अखाड़ेमें दसको जोर कराके थका देनेवाला पहलवान—जैसे उसमें रक्तकी बूँद नहीं है। वह श्वेत हो गया है। निष्कम्प ठूँठ-सा खड़ा है। न उसके नेत्रोंसे अश्रु झरता, न शरीर काँपता। पता नहीं क्या हो गया है उसे। उसकी कटिमें उसकी न धोती है, न लँगोट। एक लाल वस्त्रखण्ड कटिमें ऐसे लिपटा है जैसे दूसरेने लपेट दिया हो। मस्तकपर रक्त चन्दन लगा है और गलेमें लाल कनेरके फूलोंकी माला है। उसके सम्मुख प्रज्वलित अग्नि है और दूसरे उपकरण हैं। साक्षात् यमराजके समान भैरव स्वामी खड्ग लिए खड़े हैं। स्वामीका त्रिशूल पासमें गड़ा है। वे पूजन कर चुके हैं और महाबलि देनेको उद्यत हैं।

'घर जाओ महादेव ! माँ बुलाती है !' सुनन्द पण्डितने आदेशके स्वरमें कहा। महादेवके भयसे फटे नेत्रोंकी पलकें गिरीं और वह जैसे मूर्छासे जगा हो, हिल उठा। एक क्षण तो बहुत होते हैं, महादेव तो ऐसे मुड़ा और इतनी शीघ्रतासे भागा जैसे सिंहको देखकर कोई प्राण बचाने भाग जाय।

'अच्छा !' भैरव स्वामीके अङ्गार-नेत्र प्रज्वलित हो उठे। उन्होंने हाथका खड्ग रख दिया और पास पड़ी पीली सरसोंसे कुछ दाने उठाये।

'ठहरिये ! जगदम्बाके सामने अधिक धृष्टता अनर्थ करेगी भैरवजी !' पण्डित सुनन्दके स्वरमें रोष नहीं था; किंतु तेज पूरा ही था।

'जगदम्बा ! कौन जगदम्बा ?' भैरव स्वामीने अट्टहास किया। 'चामुण्डा नित्य अजातपुत्रा है। रक्त-बीजके रक्तकणोंको चाट जानेवाली महाकाली…।'

'परन्तु वह शक्ति है, जगन्माता महाशक्तिका अंश।' सुनन्द पण्डितने उसी तेजपूर्ण स्वरमें कहा।

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा चामुण्डा !' भैरव स्वामी क्रोधसे अधर काटते गरज उठे—'तू देख सकेगा उसे।'

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा !' सुनन्द पण्डितने तनिक स्मितसे कहा—'माताका रूप कुछ हो, अपने शिशुके लिए वह सदा सानुकूला स्नेहभरिता सौम्या है।'

'धूँ, घुर्र !' जैसे सुनन्द पण्डितकी बातका समर्थन हो गया हो। भैरव स्वामीने देखा और मुख घुमाकर सुनन्द पण्डितने भी देखा कि काली खोहके द्वारसे सिंहनी भीतर चली आ रही है। उसके दोनों शिशु बार-बार उसके सम्मुख कूद आते हैं और पंजोंसे उसके मुख और नाकको नोचनेका प्रयत्न करते हैं। सिंहनी मुख फाड़कर केवल

'घुर्र' कर रही है और शिशु तो उसके खुले मुखमें पञ्जे डालकर उससे खेलते, उसकी गतिको रुद्ध करते कुदक रहे हैं।

× × ×

'मैं मानता हूँ कि शास्त्रीय ग्रन्थोंमें पशु-बलिके विधान हैं।' सुनन्द पण्डितने शान्त स्वरमें कहा—'परन्तु ऐसे वचन पर्याप्त मिलते हैं जो बतलाते हैं कि ऐसे विधान विधि-वाक्य नहीं हैं।'

'विधि-वाक्य नहीं हैं? आप कहना क्या चाहते हैं?' पण्डित-समाजमें-से एकने तर्क किया—'विधान तो सदा विधि-वाक्य होता है।'

'ऐसा नहीं है, रोगीके लिए अनेक बार ऐसी ओषधिका विधान होता है, जो सबके लिए उपयुक्त नहीं होती। हानिकर भी हो सकती है।' सुनन्द पण्डित आजकी मण्डलीमें अकेले हैं। वे भी अन्य श्रद्धालु ब्राह्मणों-के समान भगवती विन्ध्यवासिनीको नवरात्रमें दुर्गापाठ सुनाने आये हैं। परन्तु वे बलि-प्रथाके समर्थक नहीं, इससे उनको प्रायः अन्य वर्ग व्यङ्ग सुनाया करता है और आज महाष्टमीका पाठ पूर्ण करके तो सबने उन्हें मण्डपमें ही घेर लिया है।

'हम सब रोगी हैं?' एक युवकने पूछा।

'शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पशु-बलिका विधान हिंसाको नियन्त्रित करनेके लिए है।' सुनन्द पण्डितने

युवकके प्रश्नका उत्तर न देकर अपनी बात स्पष्ट की। 'जो मांसाहारके बिना न रह सकते हों, उन राजस-तामस पुरुषोंकी हिंसावृत्ति अनर्गल पशुहत्या न करे, इसलिए उन्हें शास्त्रने आज्ञा दी कि वे भगवतीका सविधि पूजन करके, प्रोक्षित पूजित पशुकी बलि दें और केवल उसीका मांस प्रसाद मानकर ग्रहण करें।'

'परन्तु जो मांसाहारी नहीं हैं, वे महाशक्तिकी पूजा ही न करें।' युवकने उत्तेजित होकर कहा।

'महाशक्ति जगन्माता, जगज्जननी हैं। उनकी पूजा तो प्रत्येकको करनी चाहिये!' सुनन्द पण्डितने केवल दृष्टि उठाकर देखा भगवती विन्ध्यवासिनीकी ओर— 'किंतु जगन्माताकी पूजा उनके शिशुओंके रक्त-मांससे नहीं हुआ करती। माता रक्ताशना नहीं और न वह पशु-बलिसे प्रसन्न होती है।'

'आपको तो वैष्णव होना चाहिये था।' एक अन्य पण्डितने व्यङ्ग किया—'व्यर्थ आते हैं आप विन्ध्याचल।'

'मैं व्यर्थ तो नहीं आता। माताके श्रीचरणोंमें अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आता हूँ और जानता हूँ कि शिशुकी मुट्ठीकी धूलिसे भी माँ प्रसन्न होती है।' अब सुनन्द पण्डितके नेत्र भर आये थे—'परन्तु मुझे खेद होता है कि हम यहाँ भगवती कौशिकीके सम्मुख बैठकर पशु-बलिकी चर्चा करें। विन्ध्याचलकी त्रिकोणमात्रामें भगवती विन्ध्यवासिनी महाशक्ति कौशिकी महालक्ष्मी-स्वरूपा हैं, यह जानकर भी विद्वद्वर्ग......।'

'तो आप महाकाली चामुण्डाको भी बलि देना बन्द कर देना चाहते हैं ?' एक साँवले रङ्गके पण्डितने पूछा।

'यदि मेरी बात आप सब मान सकें।' सुनन्द पंडितने स्थिर स्वरमें कहा—'इससे देवी चामुण्डा रुष्ट नहीं होंगी। उन्हें परम सन्तोष होगा।'

'हम आपकी बात मान लेंगे यदि आप भैरव स्वामीको मना सकें।' युवकने व्यङ्ग किया—'आज रात्रिके द्वितीय प्रहरमें कालीखोह चले जाइये। भैरव स्वमी आज महाबलि अर्पित करेंगे।'

'मैं प्रयत्न करूँगा। सुनन्द पण्डितकी बातने सबको चौंका दिया। यह वृद्ध ब्राह्मण सच्चा है और हठी है। कहीं सचमुच कालीखोह चला गया··· ··।'

'आप मुझे क्षमा करें!' युवकने तो हाथ जोड़े–'मैंने केवल व्यंग किया। आप जानते ही हैं कि भैरव स्वामी वीर-प्राप्त सिद्ध हैं और उग्र कापालिक हैं।'

'शुम्भ-निशुम्भका मर्दन करनेवाली जगन्माताके हम पुत्रहैं।' सुनन्द पण्डितने युवककी ओर देखा—'आप कातर क्यों होते हैं ? वहाँ देवी चामुण्डा भी माताकी ही शक्ति हैं और भैरव स्वामी तो उनके सेवकमात्र हैं—पथभ्रष्ट सेवक! मैं चेष्टा करूँगा कि वे सतपथ देख सकें।'

'आजकी महाबलि बना यह ब्राह्मण!' पण्डितसमाजमें क्षोभ और दुःख दोनों था। सुनन्द पण्डितको वे समझाकर

हार गये। इतना साहस किसीमें नहीं था कि उनके साथ रात्रिमें कालीखोह जा सके। उग्र कापालिककी शक्ति— वह तो पूरे नगरकी बलि दे सकता है। जान-बूझकर मृत्युके मुखमें कौन जाय।

रात्रिके प्रथम प्रहरके बीत जानेपर सुनन्द पण्डित जब चलने लगे, उन्हें महादेवकी वृद्धा माता मिली। वह पुकार रही थी—'महादेव! महादेव! अरे कहाँ चला गया?'

पण्डित ध्यान न देते हुए उसकी पुकारपर 'कहीं गया होगा महादेव, अभी कौन इतनी रात बीती है कि बुढ़िया उसके लिए चिंता कर रही है', सोचते हुए आगे बढ़ गये। किंतु कुछ आगे महादेवके अखाड़ेका एक युवक मिला। उसने कहा—'महादेव गुरु आज वनकी ओर जा रहे थे। पता नहीं क्या हुआ था उन्हें। मैंने बहुत पुकारा; किंतु बोलते ही नहीं थे।

'कालीखोहकी ओर तो नहीं गया?' सुनन्द पण्डितने पूछ लिया।

'जाते तो उसीमार्गपर थे, उत्तर मिला और सुनन्द पण्डितके पैरोंमें लगभग दौड़ने-जैसी गति आयी। युवक उन्हें आश्चर्यसे देखता रह गया। 'महाष्टमी ... ... महाबलि...महादेव...उग्र कापालिक भैरव स्वामी... !' विचारोंका अंधड़ चल रहा था वृद्ध पण्डितके मष्तिष्कमें और महादेवको पुकारती वह वलीपलित, क्षीणदृष्टि,

नमितकाय उसकी वृद्धा माता उन्हें बार-बार स्मरण आ रही थी।

× × ×

'उसे क्या देखता है। वह सिंहनी तो शिशुओंके साथ महाबलिके प्रसादका थोड़ा-सा रक्त चाट लेनेकी तृष्णा लिये आयी है।' भैरव स्वामीने हाथकी सर्षप एक ओर फेंक दी कुछ ओष्ठ हिलाकर और गरज उठे—'अब देख इसे।'

आधे पलमें एक पूरा नर-कङ्काल कहींसे आ खड़ा हुआ। कङ्कालमें न चर्म था, न स्नायु, न अँतड़ियाँ। मनुष्यकी हड्डियोंका पूरा कङ्काल और चलता-फिरता सजीव। उसके दोनों नेत्रोंके गड्ढे अग्निके समान जल रहे थे।

'बस ! यह वेतालमात्र तुम्हारी शक्ति है ?' सुनन्द पण्डितमें न कम्प आया, न भय, न हिचक। चामुण्डा पीठकी ओर एक बार दृष्टि करके फिर उन्होंने देखा दूर पीछेकी ओर भैरव मूर्तिको —'इसका स्वामी तो वह खड़ा है दण्ड लिए और तुम्हारा यह 'वीर' जानता है कि मेरी ओर देखनेका साहस यह करे तो भैरवका कालदण्ड इसकी कपाल-क्रिया कर देगा। माताके सामने उसका यह गण……।'

'देख महादेव आ रहा है !' इन कुछ क्षणोंमें भैरव स्वामीने दूसरी बार सर्षप फेंक दी—'तू मन्त्रज्ञ है, वृद्ध है, ब्राह्मण है। मैं तुझे दया करके छोड़ देता हूँ। इस वीरको

अपनी वाम भुजा काटकर दे दे और चुपचाप चला जा यहाँसे।' खड्ग उठाकर स्वामीने सुनन्द पण्डितकी ओर बढ़ाया।

'महादेवको माता बुलाती है, उसे कोई लौटा नहीं सकता।' पण्डितके स्वरमें दृढ़ विश्वास था। 'आपने मन्त्र सिद्ध किए हैं, मैं तो माताका नाम जानता हूँ जो सबसे महान् मंत्र है!'

'तू मानेगा नहीं!' दाँत पीसकर भैरव स्वामीने सर्षप उठायी, उनके ओष्ठ हिले और सर्षप उस कङ्कालपर गिरी।

'माँ! चामुण्डे!' साथ ही पुकारा पण्डितने देवीपीठकी ओर देखकर।

जैसे पूरा विन्ध्यगिरि फट पड़ा हो। भीषण शब्द और ऐसी प्रचण्ड ज्वाला जो पूर्ण ज्वालामुखीके फटनेपर भी दृष्टिमें न आ सके। परंतु पण्डित प्रमत्त नहीं थे। वे विद्युत्के समान भैरव स्वामीको अपने पीछे करके आराध्यपीठके सम्मुख गिरे और पुकार उठे—'माँ! क्षमा कर दे इस साधुको।'

करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा, विश्वभीषणा, चामुण्डा अपने आराध्यपीठपर जिह्वा लप्लप् करती प्रत्यक्ष खड़ी थीं। उनके हाथका उठा खेटक स्तम्भित हो गया था।

'माँ! तेरी यह कालीखोह अब किसी निरीह मानव या पशुके रक्तसे अपवित्र न हो!' सुनन्द पण्डितने उठकर

अञ्जलि बाँधी और वरदान माँगा। 'तू इस साधुको क्षमा कर दे और शान्त हो जा!'

'जो तेरी इच्छा!' देवीकी वह मूर्ति जब अन्तर्हित हो गयी, तब सुनन्द पण्डितने घूमकर देखा—भैरव स्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े हैं। उनके मस्तकसे कुछ रक्त निकल आया है। अबतक खोहके एक कोनेमें अपराधी कुत्तेके समान दुबका बैताल आगे बढ़ आया। उसने आधे पलमें अपनी काली जिह्वासे भैरव स्वामीके मस्तकसे निकला रक्त चाट लिया और अदृश्य हो गया।

भैरव स्वामी उठे एक अशक्त पुरुषके समान। सुनन्द पण्डितके पीछे मस्तक झुकाये वे चल पड़े। खोहसे निकलते-निकलते सिंहनीकी ओर देखकर पण्डितने फिर भैरव स्वामीकी ओर देखा और बोले—'देवि! तुम्हारा भाग तो बैताल चाट गया। अब तुम वनमें अपने आहार-का अन्वेषण करो।'

× × ×

भैरव स्वामी फिर विन्ध्याचलमें देखे नहीं गये। विन्ध्याचलकी शाक्तमण्डली सुनन्द पण्डितके तर्क मान लेगी, यह आशा तो कभी नहीं थी; किंतु कालीखोहमें बन्द हो गयी और बंद है।

स्मरण

'भगवन् ! मुझे भय बहुत लगता है।' महर्षि त्रितका दर्शन करने आये थे महाराज दिव्यभद्र और उनके साथ हो आयी थी राजकुमारी। जब पिता महर्षिसे विदा होनेकी अनुमति लेने लगे तो उस बालिकाने ऋषिके पदोंमें मस्तक झुकाकर प्रार्थना की।

'बालिकाओंके लिए भीरु होना अस्वाभाविक नहीं है।' ऋषिने अञ्जलि बाँधे, मस्तक झुकाये सामने खड़ी उस दस वर्षकी बच्चीकी ओर देखा।

'सब मेरा उपहास करते हैं। मुझे तो एकाकी कक्षमें दिनमें जाते भी भय लगता है !' उस राजकन्याके विशाल निर्मल नेत्र भर आये और अरुण सुकुमार अधर काँपने लगे—'भैया कहते हैं कि मैं उनके उपयुक्त बहिन नहीं हूँ।'

'जब भय लगे, भगवान्‌का स्मरण कर लिया करो !' महर्षिने सहज भावसे कह दिया।

'भगवान्‌का स्मरण !' बालिका चिन्तामें पड़ गयी।

'यह अतिशय चपल है।' महाराजने अपनी कन्याकी कठिनाई सूचित की—'कुछ काल एक स्थानपर तो इसका

शरीर स्थिर नहीं रह पाता। इधरसे उधर फुदकती फिरती है। मन कैसे इसका स्मरणमें लगेगा ?'

'युवराज मणिभद्रकी गदा देखी है वत्से ?' ऋषिने इस बार ध्यानपूर्वक राजकुमारीकी ओर देखा और स्नेह-सने स्वरमें बोले—'उससे बहुत विशाल ज्योतिर्मय गदा है श्रीहरिकी।

'कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन।'

'शत्रुओंके रक्तसे लथपथ श्रीहरिकी उस अत्यन्त प्रिया कौमोदकी गदाका स्मरण तू कर लिया कर!'

'श्रीहरिके तो कोई शत्रु नहीं। वे तो सबके परम सुहृद् हैं।' राजकन्याने आश्चर्यसे कहा—'माताजीने तो मुझे यही बताया है।'

'तुम्हारी माताने सत्य कहा है। श्रीहरि प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं, किंतु उनके आयुध-आभरण उनके समान ही चिन्मय हैं।' बालिकाके विवेकने ऋषिको सुप्रसन्न किया था। वे समझा रहे थे—'भगवदाश्रित जनोंको उत्पीड़ित करनेवालोंको प्रभुकी गदा स्वयं शत्रु मान लेती है। वह स्वयं नियुक्ता है ऐसे शत्रुओंको शमित करनेमें। इसीलिए वह अत्यन्त प्रिया है हरिकी।'

राजकन्याका समाधान हो गया। उसने महर्षिको पुनः वन्दन किया और पिताके साथ वह राजसदन लौट गयी।

'भगवन् !' महापूजाके उपकरण समीप रखकर राजकुमार चण्डबाहु दण्डवत्-प्रणिपात करते भूमिपर गिर पड़े। उठनेपर उन्होंने अवधूतके चरण पकड़ लिए। रात्रिके अन्धकारमें उनके अश्रु भले न देखे जा सकें, उनके भरे कण्ठके स्वर टूट रहे थे—'आपके अतिरिक्त और कोई मुझे अवलम्ब नहीं दे सकता।'

राजकुमार आज सायंकाल विक्षिप्तप्राय राजसदन लौटे थे। क्रोधसे बार-बार पैर पटकते मुट्ठियाँ बाँधकर अधर दंशन करते। अङ्गारनेत्र राजकुमारके सामने आनेका साहस राजमाता तकको नहीं हुआ था। अपने कक्षमें वे बार-बार 'हुँ' करते चक्कर काटते रहे और प्रहर-रात्रि व्यतीत होनेपर कुछ निश्चय करके स्वयं सामग्री एकत्र करने लगे।

'मैं एकाकी जाऊँगा!' राजकुमारके आदेशकी अवहेलना करके एक विश्वस्त अनुचरने उनका अनुगमन किया था। वह शस्त्रसज्ज सावधान सेवक साथ है, इसका अनुमान भी राजकुमार नहीं कर सके। अंधकारमें वह उनसे पर्याप्त दूर रहा है।

राजकुमार आज अपने रथसे गुप्तरूपसे अङ्गनरेशकी राजधानी गये थे। अङ्गराज महाराज दिव्यभद्रसे उनके पिताकी शत्रुता है; किंतु मकरध्वज तो यह सब नहीं देखता। जबसे अङ्गराजकुमारी श्रीजगन्नाथके रथयात्रा-समारोहमें दृष्टि पड़ी, राजकुमार उन्हें किसी प्रकार भूल नहीं पाते। अपने चरोंकी सूचनाके अनुसार राजोद्यानमें

राजकन्याके सम्मुख अकस्मात् उपस्थित होकर उसे चकित कर देनेमें वे सफल हो गये थे।

'अनार्योचित कर्म है यह !' राजकन्याने तुच्छ सेवककी भाँति उन्हें झिड़क दिया—'लज्जा आनी चाहिये आपको। तत्काल आप चले नहीं जाते तो भैया मणिभद्रकी गदाके पारुष्यसे परिचित होना पड़ेगा और अङ्गराज्यका कारागार आपका आतिथ्य करेगा !'

राजकन्याने सचमुच सहेलीको सूचना देने भेज दिया था। सिरपर पैर रखकर राजकुमारको भागना पड़ा। इतना तिरस्कार जीवनमें अपमानित होनेका प्रथम अवसर था। राजकुमार क्रोधसे उन्मत्त हो उठे—'इस अभिमानिनीको अपने पैरोंपर डालकर रहना है।'

सङ्कल्प कर लेना सरल है; किंतु उसकी पूर्तिके साधन सोचने लगे तो हृदय बैठ गया। नाममात्रका राज्य है उनका। अङ्गनरेशसे युद्धकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अङ्गके युवराज मणिभद्रसे द्वन्द्व करने जायँ तो उपचारके लिये भी भवन लौट सकेंगे—कम सम्भावना है। अन्ततः राजकुमारको कुलेश्वर कौलिकका स्मरण आया था।

भयावह अन्धकार, घोर श्मशानभूमि, उल्लूककी कभी-कभी कर्णवेधी ध्वनि तथा शृगालोंका शब्द; किंतु क्रोध एवं क्षोभके आवेशमें राजकुमारने इधर ध्यान ही नहीं दिया था। वे सीधे चलते गये।

जलकर चिताकी लपटें शान्त हो चुकी थीं ; परंतु अङ्गारोंका धूमिल प्रकाश था। कृष्णवर्ण, दीर्घ प्रचण्डकाय, रूक्ष विकीर्णकेश, दिगम्बर अवधूत कुलेश्वर कौलिक जैसे इस शीतकालकी रात्रिमें धूनीके समीप पड़े हों, इस प्रकार उस चिताके पार्श्वमें भूमिपर पड़े थे।

'तू कामक्षुब्ध आया है !' अवधूतने अपने पदोंमें प्रणत, हिचकियाँ भरते राजकुमारको तथा उनके द्वारा लाये गये महापूजाके उपकरणोंको सहजभावसे देखा।

'कामना आपके यहाँ तो अपमानिता नहीं होती देव !' राजकुमारने पुनः पदोंपर मस्तक रक्खा।

'निगमके साधक कामनाको निर्मूल करके परिपूत होते हैं और आगम कामनाका केन्द्रीकरण करके उसमें आत्माहुति देनेका आह्वान करता है।' अवधूत अपनी मस्तीमें बोलने लगे—'शुद्ध सच्चिदानन्द ही महाशक्तिके अङ्कमें सत्त्व, रज, तम होकर प्रतिफलित होता है। ऋषि त्रित चित्का साक्षात्कार करते हैं आत्मरूपमें और कुलेश्वर रजोगुणकी चरम परिणतिमें आत्माहुति करके 'शिवोऽहं' कहता है। त्रित और कुलेश्वरमें जो तारतम्य देखे, मूर्ख है वह। किंतु इस गर्वोक्तिको राजसदेह कुलेश्वरका कण्ठ ही व्यक्त कर सकता है। सत्त्वशरीर त्रितको तो सौम्यता प्राप्त हुई जगतीके जीवनमें।'

'तू यह सब समझेगा नहीं।' अचानक बोलते-बोलते अवधूत चुप हो गये। राजकुमारकी ओर दो क्षण देखकर फिर बोले—'तुझे सिद्ध आकर्षण चाहिए ! श्रद्धा और

संयम सर्वत्र साधनामें अनिवार्य हैं ; किंतु तंत्रके साधकमें लोकोत्तर साहस भी चाहिए। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विस्फुटित हो जाय तो भी साधकका आसन अविचल रहे—कर सकेगा ?'

'कर सकूँगा !' दृढ़स्वर राजकुमारने स्वीकार किया।

'अहङ्कारका औद्धत्य !' अवधूतने अट्टहास किया—'कोई क्षति नहीं होती शरीरोंके शीर्ण होनेसे। कालीके ग्रास हैं ये देह और तू शाश्वत है। 'स्मरण'से संघर्ष करने चला है तू। महामायाकी इच्छा…।'

अवधूतके प्रलापको राजकुमारने नहीं समझा ; किंतु अपनेको उन्होंने कृतार्थ माना ; क्योंकि अवधूतने उन्हें आकर्षण-प्रयोगकी सम्पूर्ण विधि समझा दी थी और वे गर्व कर सकते थे कि कुलेश्वर कौल-जैसे महासिद्धने मंत्रदान किया था उन्हें।

× × ×

'क्या है ?' राजकुमारीने इधर-उधर देखा। अकस्मात् उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी थी। कक्षमें मंद प्रकाश है सुगन्धित तैलप्रदीपका और उसकी दोनों सहेलियाँ शान्त सो रही हैं उसके समीप ही। अन्ततः वह क्यों जाग गयी ? उसकी निद्रामें विघ्न कैसे पड़ा ? आज उसे भय क्यों लग रहा है ?

महर्षि त्रितने आजसे छः वर्ष पूर्व उसे भय-निवारणका उपाय बतलाया था—'श्रीहरिकी गदाका स्मरण—वह

स्मरण तो उसका जीवन बन गया और जब वह आखेटमें अब अपने अग्रजके साथ अश्वारूढ़ होकर निकलती है, बचपनमें उसका उपहास करनेवाले उसके बड़े भाई मणिभद्र अब कहते हैं—'मेरी बहिनके सामने वनराज भी पूँछ दबाकर भागता है। अङ्गराजकुलकी यशोमूर्ति है मेरी अनुजा!' और आज रात्रिमें यह भय—अकारण भय उसी राजकुमारीको? अपनी शय्यापर ही वह बैठ गयी और मंद स्वरमें स्तवन करने लगी—

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्डि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन्॥
(श्रीमद्भागवत ६।८।२४)

लगा कक्ष स्निग्ध चन्द्रिकासे परिपूर्ण हो गया है। चन्द्रोज्ज्वल विशाल गदा आविर्भूत हो गयी है और उससे झर रही है वह स्निग्ध, उज्ज्वल, असीम वात्सल्यधाराके रूपमें एक शुभ्र ज्योत्स्ना। राजकन्याने अपना मस्तक झुकाया और उसे कुछ ऐसा मधुर आलस्य आया कि वह शय्यापर पुनः लुढ़ककर गाढ़ निद्रामें मग्न हो गयी।

वह रात्रि थी कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी। महारात्रिका मुहूर्त जाग्रत् करने राजकुमार चण्डबाहु श्मशानमें बैठा था रात्रिके प्रथम प्रहरसे ही। आज अपना आकर्षण-प्रयोग सम्पूर्ण करके ही आसनसे उठेगा। इसी रात्रिमें,

इसी श्मशानभूमिमें अभिमानिनी अङ्गराजकन्या उसके चरणोंपर गिरेगी।

'ठं ठां ठूँ वौषट्' अत्यन्त कर्कश किंतु दृढ़ स्वर गूँज रहा है श्मशानकी नीरवतामें। प्रज्ज्वलित चितामें पड़ी पीत सर्षपकी आहुतियोंकी पूय गन्ध वायुमें भरी है। नीलवसन, रक्तचन्दनचर्चित-देह राजकुमार सर्षपके साथ अपराजिताके पुष्पोंकी अनवरत आहुति चिताग्निमें डाले जा रहा है।

कङ्काल देह प्रकट हुए, चिल्लाये, नृत्य करते रहे और स्थिर खड़े हो गये। शतशः अदृश्य महानागोंकी फूत्कार वायुमें उठी एवं लीन हो गयी। ज्वालाएँ स्थान-स्थानपर धधकीं, बढ़ीं, बुझ गयीं। राजकुमार अविचल रहा, निष्कम्प रहा और उसका स्वर स्थिर रहा—'ठं ठां ठूं वौषट्!'

राजकुमार तब भी निष्कम्प रहा जब साक्षात् चामुण्डा—श्मशान-कालिका, नीलवसना, करालदंष्ट्रा, करालमालिका अट्टहास करती चिताग्निसे बाहर ऐसे कूद पड़ी, जैसे साधकके मस्तकपर ही कूद जायगी।

'ठं ठां ठूँ वौषट्! आनय तां···।' अचानक सम्पूर्ण गगनमें जैसे प्रलयाग्नि प्रकट हो गयी। प्रचण्ड ज्वाल-मालावृता सहस्राशनि-भीषणा अद्भुत अनन्तदीर्घा एक महागदा आकाशमें आयी और चामुण्डा श्मशानकालिकाने अपने केश नोच लिये। उसके शरीरका नीलाम्बर भस्म हो गया क्षणार्धमें। 'ठं!' एक अकल्पनीय दारुण शब्द—

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जैसे चूर्ण-विचूर्ण हो गया हो ऐसा विकराल विकट विस्फोट !

आज आप विज्ञानकी कृपासे परमाणु-विस्फोटकी भयङ्करताका कुछ अनुमान कर सकते हैं। विश्वके मूलमें जो मातृका बीज है, उन बीजाक्षरोंमें किसीका विस्फोट हो जाय, सृष्टि—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका कहीं पता नहीं लगेगा। यह तो सर्वेश्वरकी अपार महिमा है कि बीजाक्षरोंका विस्फोट समष्टिमें सम्भव नहीं। वह सदा साधकमें—व्यष्टिमें होता है।

'ठ' साधकके मस्तिष्कमें उसके बीजाक्षरका विस्फोट हो गया। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड फट गये मानो उसके मस्तकमें। यह बीजाक्षरपर चिन्मय श्रीहरिकी गदाका स्मरणाघात—राजकुमार उस दिनसे एक असाध्य उन्माद-का आखेट हो गया। वह अकस्मात् दौड़ता, भागता, वस्त्र नोचता और 'ठं'का आर्तनाद करके मूर्छित हो जाया करता था।

साधु-समुदायकी जनश्रुति तो यह भी है कि उसी समयसे आकर्षणके अभिचारके लिए चामुण्डा श्मशान-कालिकाका अनुष्ठान वर्जित हो गया है। अनुष्ठान आरंभ करते ही वह उन्मादिनी हो उठती है और साधकको ही अपना शिकार बना लेती है।

नामका आश्रय

'ह्रां ह्रीं ह्रूं फट्' उसका स्वर उच्च हो गया था। घाघरासे बहते हुए शवको पकड़कर उसने सन्ध्याके झिलमिले प्रकाशमें ही तैरकर निकाल लिया था। शव जलसे फूल गया था। उसे कहीं-कहीं कछुए और मछलियोंने भी नोच लिया था। उस समय उसके उन स्थानोंसे सफेद मांस दिखायी पड़ता था। उसके फूले हुए वक्षपर जब वह आसन लगाकर बैठा तो ढेर-सा जल शवके मुखसे निकल पड़ा। अब घोर अन्धकारमें यह सब दिखायी नहीं पड़ता।

उसने शवके मस्तकपर रक्त-चन्दनका तिलक किया था। गलेमें रक्त कनैर कुसुमोंकी माला डाली थी। कुंकुम छिड़का था सर्वाङ्गपर। रक्तवस्त्र पहनकर वह भी इन्हीं उपकरणोंसे आभूषित हुआ था। घृत, अक्षत सब कुंकुमारुण कर दिये थे। बेचारा बकरीका छोटा-सा काला बच्चा गलेमें कनैरकी मालासे उलझता बार-बार चिल्ला रहा था।

आश्विनकी रात्रिमें भी बादल थे आकाशमें। घाघराका जलप्रवाह मानों किसीकी क्रूर हँसी हो। आज

दुर्गाष्टमी है। अर्धरात्रितक चन्द्रमाका धुँधला प्रकाश रहा और अब तो महाश्मशान घोर अन्धकारकी यवनिकामें अत्यन्त भयङ्कर हो उठा है।

जबतक मन्द प्रकाश था, इधर उधर पड़े कपाल, शृगालोंसे नोचे जाते शव, बुझी चिताओंकी भस्मराशि प्रत्यक्ष थी। फिर भी प्रकाशने एक साहस दे रक्खा था। अन्धकारमें स्थान-स्थानपर बुझती चिताओंसे कभी-कभी सहसा लपट फूट पड़ती है। उलूकका भयानक स्वर दिशाओंको झकझोर जाता है। शवोंपर लड़ते शृगालोंकी किच-किच बराबर गूंज रही है।

वायुमें चिताओंकी चिराँयध, सड़ते शवोंकी दुर्गन्धि भरी है। नाक फटी जाती है। उसने सर्वाङ्गमें इत्र मल रक्खा है, फिर भी क्या इससे यह दुर्गन्धि दबेगी। यद्यपि जिस शवपर वह बैठा है, उसे उसने इत्रसे नहला दिया है, परन्तु उसीसे बीभत्स गन्ध निकल रही है।

एक अधजली चिताके समीप उसने शवासन लगाया है। चिताकी लपटोंके रक्तिम प्रकाशमें उसका काला शरीर जैसे रक्तसे स्नान कर गया है। उसके नेत्र सम्मुखके अंगारोंके समान जल रहे हैं। उसकी लट बनी रूखी जटाएँ मानो धूम्रवर्ण सर्प सिर तथा कन्धोंपर लटकते हों। गलेमें हड्डियोंकी माला है। चितामें वह बराबर आहुति डाल रहा है। बायें हाथमें उसने किसी मनुष्यके पैरके जंघेकी हड्डी इस प्रकार पकड़ रक्खी है, मानो वह कोई महाशस्त्र हो। यद्यपि दाहिनी ओर भयङ्कर खाँड़ा

लपटोंमें चमक रहा है। खाँड़ा उसने शवके दाहिने हाथपर रख छोड़ा है।

'ह्रां ह्रीं ह्रूं फट्' उसका कण्ठ तीव्रसे तीव्रतर होता जा रहा है। उसका दाहिना हाथ बराबर आहुतियाँ डाल रहा है चितामें। सहसा वायुमें सुरसराहट प्रारम्भ हुई। मानो चारों ओर सहस्रों सर्प श्वास ले रहे हों। एक क्षणको उसका हाथ रुका। उसने वह हड्डीका स्रुवा एक ओर रक्खा। पीली सरसों उठायी और कुछ गुनगुनाकर चारों ओर फेंक दी।

सुरसराहट बढ़ती गयी। मानो आँधी आ रही हो। धीरे-धीरे कुछ छायामूर्तियाँ प्रकट होने लगीं। चिताकी लपटोंके प्रकाशमें बड़ी भयावह थीं वे मूर्तियाँ। मानव कङ्काल--मांस, चर्म एवं स्नायुओंसे शून्य केवल अस्थि-कङ्काल थे वे। अस्थिके हाथोंसे ताली बजाकर वे नाच रहे थे। खड़खड़ाकर अट्टहास कर रहे थे। उसके चारों ओर थोड़ी दूरीपर ऐसे पिशाचोंका एक समुदाय घेरा बनाकर नाच रहा था। उसने उधर देखा ही नहीं। वह तो बराबर आहुति दे रहा था। निर्भय-निष्कम्प-स्थिर।

'ह्रां ह्रीं ह्रूं फट् महाभैरवाय स्वाहा" सहसा उसने उस शवके मुखमें एक आहुति डाल दी जिसपर वह बैठा था। मानो आकाश फट गया हो। बड़ी विकराल थी वह हँसी। सारे पिशाच भयके मारे सन्न हो गये थे। जैसे वे सचमुच प्राणहीन कङ्काल ही हैं और लाकर खड़े कर

दिये गये हैं। शवने मुख फाड़ दिया था और यह हास्य उसीका था।

वह शवपरसे शीघ्रतासे उतर गया। पासमेंकी नौ बोतलोंका मुख तीव्रतासे खोलता गया और उनकी मदिरा शवके मुखमें उड़ेलता गया। झटसे उसने बकरेको पकड़ा और घसीटकर शवके पास ले आया। भयके मारे बकरेका आर्त क्रन्दन भी बन्द था। खाँडेके एक वारने मस्तक अलग कर दिया। शवके मुखमें रक्तकी धारा पड़ी। अन्तमें बकरेका सिर उसने शवके मुखपर गिरा दिया। ओह, कच-कच करके शवने उस सिरको चबा डाला।

'बलि ! बलि ! महाबलि !' बड़ा भयङ्कर स्वर था। शव बोल रहा था। उसने नेत्र खोल दिये थे। उसके नेत्र—जैसे किसी गुफाके भीतर दो अङ्गारे जल रहे हों। पिशाच स्तब्ध खड़े थे।

'तू ही बुला उसे !' वह कापालिक निर्भय था। उसने शवके उस हाथमें जहाँसे खाँड़ा उठाया था, थोड़ी पीली सर्षप रख दीं।

'बलि ! बलि ! महाबलि !' शव पुन: चिल्लाया। उसने वह हाथ उठाया और कापालिककी अञ्जलिमें सर्षप डाल दीं। बाकी वह ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। कापालिकने सरसोंमेंसे कुछ एक ओर फेंक दीं और इस बार वह बड़ी भयङ्कर हँसी हँसने लगा। पिशाचोंके घेरेके बीच वह एक महापिशाच जान पड़ता था।

× × ×

[२]

'पिताजी, सिर दर्द कर रहा है। मन जाने कैसा हो रहा है।' युवक जैसे स्वयं सौन्दर्य हो है। लम्बा इकहरा शरीर, गौरवर्ण, बड़े-बड़े नेत्र। खादीकी धोती और कुर्तेमें उसकी आकृति बड़ी मनोहर जान पड़ती है। आज उसका मुख उदास हो रहा है। जैसे विकच पाटल सूर्यके प्रखर तापसे कुम्हला गया हो। 'भोजन किया ही नहीं जाता। लगता है कोई कहींसे बुला रहा है। तनिक घूमने जाता हूँ।'

पण्डित श्यामसुन्दरजी यहाँके सम्पन्न व्यक्ति हैं। अच्छी जमींदारी है। नगरमें तो केवल रहनेके लिए यह विशाल भवन एवं उपवन बना रक्खा है। कई नौकर हैं। माली है। कोई अभाव नहीं। घरमें उनकी पत्नी हैं और युवा पुत्र है। पुत्र जितना सुन्दर है, उतना ही सुशील भी। इसी वर्ष वह काशीसे आचार्य होकर लौटा है। एकमात्र सन्तानपर वृद्ध दम्पतिका असीम स्नेह है। इसी वर्ष उन्होंने अपने कृष्णकुमारका विवाह किया है। नगरमें पण्डितजीका सम्मान है। वे आस्तिक हैं, विद्वान् हैं, नम्र हैं। सभी आस्तिक जन उनका आदर करते हैं।

भवनके चारों ओर उपवन है और उपवनके एक कोनेमें श्रीराधा-कृष्णका भव्य-मन्दिर है। पण्डितजीने भगवान्के शृङ्गारमें पूरा व्यय किया है। मन्दिरमें पुजारी तो केवल मन्दिरकी स्वच्छताके लिए है। पूजा तो दोनों समय स्वयं पण्डितजी ही करते हैं। प्रत्येक पर्वोत्सव

बड़ी धूम-धामसे मनाया जाता है। सभी आस्तिकजन आ जाते हैं। नित्य सायं मन्दिरमें जमकर दो घण्टे सङ्कीर्तन होता है। स्वयं पण्डितजी जब करताल लेकर खड़े होते हैं तो नृत्य करते समय वे गौराङ्ग महाप्रभुकी मण्डलीमें खड़े अद्वैताचार्यका स्मरण कराते हैं।

आज पत्नीने सूचना दी कि कृष्णकुमारने भोजन नहीं किया। पण्डितजीने भगवान्का प्रसाद ले लिया था। मन्दिरके प्राङ्गणसे ढोल एवं हारमोनियमकी ध्वनि आ रही थी। सङ्कीर्तन-प्रेमीजन वहाँ पहुँच गये थे। वाद्य ठीक किये जा रहे थे। पण्डितजीकी प्रतीक्षा हो रही थी। उन्होंने सङ्कीर्तनके लिए उठते समय पुत्रसे बुलाकर उसके भोजन न करनेका कारण पूछा।

'नहीं बेटा, आज तो तू कहीं मत जा!' पण्डितजीकी पत्नी पुत्रके साथ ही आयी थीं। मुझे वह सबेरेका साधु अभीतक नहीं भूला है। पता नहीं क्यों मुझे बहुत भय प्रतीत होता है।'

प्रातः जब भगवान्के पूजनसे निवृत्त होकर पण्डितजी पुत्र एवं पत्नीके साथ भवनके बाहर बरामदेमें खड़े थे, एक काला, लाल-लाल नेत्रोंवाला, भयङ्कर पीली जटाओंवाला साधु पता नहीं कहाँसे उनके सामने आ खड़ा हुआ था। उसके गलेमें हड्डियोंकी माला थी और वह घूर-घूरकर कृष्णकुमारको देखता रहा था। उसकी आकृति एवं चेष्टा बहुत ही भयानक लगती थीं।

'तू, बस तू ही है !' वह साधु अपने आप बड़बड़ाया था। 'इतने दिनोंसे मैं तुझे ही ढूँढ़ रहा था। हाँ, तुझमें चौबीस लक्षण हैं। बस, महाभैरव आज संतुष्ट हो जायँगे। तू धन्य है, महाभैरव तुझे स्वीकार करेंगे।'

'तुम अपना यह लड़का मुझे दे दो ! बड़े भाग्यवान् हो तुम !' सहसा उसने पण्डितजीसे कहा।

'महाराज आशीर्वाद दें !' पण्डितजीने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। 'मेरे यह एक ही पुत्र है !'

'तू महाभैरवका उपहार रोक लेगा ? अच्छा !' बड़े विकट ढङ्गसे अट्टहास करता पागलोंकी भाँति वह दौड़ता हुआ चला गया।

पण्डितजीने पत्नीको आश्वासन दिया। 'माताकी बात मानो ! चलो, अभी तो भगवान्का गुणगान करो !' उन्होंने पुत्रको आदेश दिया और उसको लेकर ही मंदिर-की ओर चल पड़े। कीर्तन उस दिन खूब जमा और मध्यरात्रिके पश्चात् जब आरती करके वे लौटे भगवान्के शयनके पश्चात् तो पत्नीके पूछनेपर उन्हें पता लगा कि पुत्र उनके साथ नहीं है।

बड़ी व्यग्रतासे अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। पत्नीने माली-को दौड़ा दिया। पुलिस-स्टेशन पास ही था और थानेदार पण्डितजीका आदर करते थे। आध घण्टेमें ही वे चार सिपाहियोंके साथ आ पहुँचे। पण्डितजी अभीतक नौकरों-से पूछ रहे थे। इधर-उधर कुछको दौड़ा चुके थे।

अन्ततः पता लगा कि कीर्तन समाप्त होनेपर मालीने कृष्णकुमारको बाहर जाते देखा है। मालीने बताया 'वे बहुत उदास थे। मस्तकपर पसीनेकी बूँदें चमक रही थीं। खम्भेकी बिजली बत्तीके प्रकाशमें उसने देखा था कि उनका मुख उतरा हुआ था। मालीके पुकारनेपर भी न तो बोले और न उसकी ओर देखा। बड़ी शीघ्रतासे चले गये।'

'ओह !' पण्डितजीने दीर्घ श्वास ली। 'वह प्रातःका साधु ! अवश्य कृष्णकुमार श्मशान ही पहुँचा होगा !'

'क्या बात है ?' दारोगाने पूछा।

'वह एक तांत्रिक साधुके अभिचारमें आकर्षित हुआ जान पड़ता है। साधु सम्भवतः उसकी बलि देगा ! भगवान् ही रक्षा करें।'

'हम श्मशान जाते हैं !' थानेदार राजपूत थे। भय क्या है, इसे वे जानते ही नहीं। उन्होंने पुलिसकी नौकरी-में बीस वर्ष भयङ्कर रात्रियोंमें चोर-डाकुओंका पीछा करनेमें ही काटा है। उन्हें श्मशान या जङ्गल भय नहीं देते।

'कोई लाभ नहीं ! तांत्रिककी शक्तिका सामना कोई भी शरीर या अस्त्र-शस्त्रसे नहीं कर सकता ! व्यर्थ है तुम्हारा जाना ! किंतु तबतक तो थानेदार उपवनका फाटक पार कर रहे थे। वे अनुभवी व्यक्ति थे और एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उन्हें अभीष्ट नहीं था।

'प्रभु शयन कर चुके ! उनके विश्राममें बाधा एक पुत्रके लिए नहीं दी जा सकती।' पण्डितजीने स्वयं कहा और मन्दिरकी ओर मुड़कर भी रुक गये। 'रामाधीन !' सहसा उन्होंने मालीको पुकारा। आदेश दे दिया कि पड़ोसके कीर्तनप्रेमियोंको वह पुनः बुला ले और पण्डितजी करताल लेकर भवनके हालमें खड़े हो गये। वे सब कुछ भूलकर नेत्र बन्द किये पुकार रहे थे—

कंसारि जय जय मुरारि जय जय।
माधव मुकुन्द हरि बिहारि जय जय ॥

× × ×

[३]

जैसे किसीने गायके गलेमें रस्सी बाँध दी हो और उसे पकड़कर आगे खींच रहा हो। कृष्णकुमार खिंचे जा रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि उनके पैरोंके नीचे चिता-भस्म पड़ रही है, हड्डियाँ दब रही हैं और उनकी ठोकरोंसे कपाल लुढ़क रहे हैं। उनके कान मानो उलूकका चिल्लाना, शृगालोंकी किचकिच तथा हुआँ-हुआँ नहीं सुन रहे थे। उनके नेत्र उस अंधकारमें भी जैसे स्पष्ट मार्ग देख रहे थे। उनकी नासिकाको मानो वहाँकी दुर्गन्धिका अनुभव नहीं हो रहा था। वे बढ़ते जा रहे थे, बढ़ते जा रहे थे, उसी कापालिककी चिताकी ओर बढ़ते जा रहे थे।

पिशाचोंके घेरेसे उनके लिए मार्ग बन गया। उन कङ्कालोंने उन्हें भूमिपर मस्तक रखकर अभिवादन किया।

उन्हें कुछ पता नहीं। वे तो सीधे गये और जाकर शवके वाम भागमें खड़े हो गये। जैसे एक मूर्ति खड़ी हो। उनकी चलती पलकें उन्हें जीवित बता रही थीं। उनका मुख कह रहा था कि वह अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। सब समझकर भी कुछ कर नहीं पाते। सर्वथा विवश हैं।

कापालिक फिर ठठाकर हँसा। दूसरे ही क्षण पृथ्वीमें सिर रखकर उसने आगतको प्रणाम किया। उसके मस्तकपर रक्त चन्दन लगाया। गलेमें रक्त कनैरपुष्पोंकी माला डाली। आरती की और पैरोंपर जपाकुसुमोंकी अञ्जलि दी। अब उसने खड्ग उठाया और उसे एक बार शवके दाहिने हाथमें रख दिया।

उसी समय थानेदार अपने सिपाहियोंके साथ वहाँ पहुँचे। कङ्काल पिशाचोंकी ओर देखकर उनके मुखसे चीख निकल गयी। उनके तीन सिपाही मूर्छित होकर गिर चुके थे और एक जो सबसे वृद्ध था, आगे बढ़ आया था। उसने बड़ी दृढ़ताका परिचय दिया। थानेदारके कंधोंको उसने झकझोरा और उनकी पिस्तौल जो हाथसे छूटकर गिर गयी थी, उठाकर उनके हाथोंमें दे दी।

पिशाचोंकी कङ्काल मूर्तियोंने इधर देखा तक नहीं। परन्तु वे घेरा बनाकर खड़े थे। दुहरी-तिहरी पंक्ति नहीं, पूरी भीड़ थी उनकी। उनको पार करके जानेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कापालिकने इधर दृष्टि की, वह हँसा। 'एक नहीं, पाँच बलि और।' जोरसे चिल्लाया और पीली सरसों उसने फिर फेंका। मूर्छित सिपाही उठ

खड़े हुए। पिचाचोंने मार्ग छोड़ दिया। खिंचे हुए-से पाँचों चल पड़े और जाकर कृष्णकुमारके पीछे पंक्तिबद्ध खड़े हो गये।

पिशाचोंने इनको भी अभिवादन किया था, परन्तु केवल हाथ जोड़कर। कापालिकने एक ही बार हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। इनकी पेटियाँ खोलकर अलग रख दीं। साफे उतार दिये। कमीजें तथा जूते, मोजे, पट्टियाँ और आधे पाजामे (हाफ पाइण्ट) सबने कापालिकके आदेशपर स्वयं इस प्रकार उतार दिये जैसे सैनिक अपने नायकका आदेश पालन करता है। सबके मस्तकोंपर रक्तचन्दन लगा। कनैर पुष्पकी मालाएँ नहीं थीं। कापालिकने इनके सिरोंपर दो-दो कनैर पुष्प रख दिये।

'ह्रां ह्रीं ह्रूं फट्' वह शवके दाहिनी ओर बैठ गया एक घुटना भूमिमें रखकर वीरासनसे। शवके अङ्गार-नेत्र खुले थे। कापालिकने हाथ फैलाया और शवने दाहिना हाथ उठाकर खड्ग उसके हाथोंपर दे दिया। वह उठ खड़ा हुआ। 'जो तुझे सबसे अधिक प्रिय हो, उसका ध्यान कर ले!' उसने कृष्णकुमारसे कहा। एक क्षण खड्ग लिए वह सम्मुख खड़ा रहा।

कंसारि जय जय मुरारि जय जय।
माधव मुकुन्द हरि बिहारि जय जय॥

कृष्णकुमार आश्चर्यसे ठक् रह गये। भय पता नहीं क्या हो गया। यह आकाशमें सहस्र-सहस्र कण्ठोंसे कौन उनके पिताकी प्रिय ध्वनि पुकार रहा है तालस्वरमें।

उन्होंने नेत्र बंद कर लिये ओर उसी स्वरमें स्वर मिलाकर गा उठे। तल्लीन हो गये वे।

उन्होंने नहीं देखा कि कापालिकने खड्ग उठाया है। उन्होंने नहीं देखा कि पिशाचोंकी मण्डली करुण चीत्कार करके सहसा ऐसी लुप्त हो गयी है, जैसे खरगोशके सिरसे सींग। उन्होंने भी नहीं देखा कि वह इतने जोरसे चिल्लाया कि श्मशानके श्रृगाल भी पूँछ उठाकर मील भर दूर भाग गये भयके मारे। उन्होंने नहीं देखा कि शव 'ओह मार डाला दुष्टने !' कहता उठा और उसने कापालिकको पकड़कर उसी प्रकार कच-कच करके चबा डाला जैसे कोई मूली खा गया हो। उस कापालिकके शरीरसे एक बिन्दु भी रक्त नहीं निकला !

उन्होंने तो सुना कि कोई बड़े मधुर स्वरसे पुकार रहा है, 'भैया, आ मेरे साथ !' वे उसी अज्ञात अदृश्यके पीछे चल पड़े और जब पूर्णतः अपने आपमें आये तो देखा कि भीतरसे कीर्त्तनकी तुमुल ध्वनि आ रही है और वे अपने भवनके द्वारपर खड़े हैं। वे तो यह सब स्वप्न ही मानते यदि प्रातः सीधे श्मशानसे अरुणोदयमें ही आकर थानेदार साहब सिपाहियोंके साथ रात्रिकी घटनाका विवरण न सुनाते।

नाम प्रभाव सोच नहिं सपने

'आप समर्थ हैं, अधिकारी हैं, अतः आपको प्रयत्न करना चाहिये !' महर्षि वसिष्ठके लिए अपने यजमानकी यशोवृद्धि-कामना सहज स्वाभाविक है। उनका यजमान भी तो कोई साधारण पुरुष नहीं है। सूर्यवंशका राज-सिंहासन—मनुके वंशधरोंमें इस सिंहासनपर अबतक तो त्रिलोकपूजित, सुरासुरजय-पराक्रमी ही आसीन हुए हैं; किंतु नाभागके पुत्र अम्बरीष-जैसी भक्ति, इतना अकल्पनीय भगवद्विश्वास—स्वयं वसिष्ठजी चकित रह जाते हैं। इतनी नम्रता, ऐसी धर्मवत्सलता ऋषियोंमें भी कहाँ दृष्ट होती है। अतः महर्षि चाहते हैं कि उनके यजमानका पराक्रम भी लोकविश्रुत हो। आज वे स्वयं राजभवन पधारे हैं। महाराजने अर्घ्य निवेदित किया, चरण धोये, चन्दन-पुष्पमाल्यादिसे सविधि अर्चन जब समाप्त हुआ, बद्धाञ्जलि, नतमस्तक सम्मुख खड़े नरेशसे महर्षिने कहा।

'यह जन तो आज्ञाका अनुगामी है !' बड़ी विनम्रता-पूर्वक अम्बरीष कह रहे थे—'सेवककी क्या सामर्थ्य और कैसा अधिकार—वह तो आपकी अपरिसीम कृपाका प्रसाद है जो अनायास इस अनधिकारीको प्राप्त हो जाया

करता है । आपकी आज्ञाका पालन हो सके, जीवनके वे क्षण धन्य हुए ।'

'राजन् ! आपके पूर्वज अश्वमेध-पराक्रम हुए हैं। आपमें लोकैषणाकी गंध नहीं है । यह मैं जानता हूँ ; किंतु भगवान् श्रीहरि यज्ञमूर्ति हैं । अश्वमेध उनकी अर्चाका श्रेष्ठतम समारोह है ।' महर्षिने गम्भीरतापूर्वक अपनी इच्छा व्यक्त की—'मैं चाहता हूँ कि आप इसका सङ्कल्प करें और उचित प्रयत्नमें लगें ।'

'आपकी इच्छा है, अतः इस सेवकके लिए तो यह कर्तव्य ही है ।' बिना एक क्षण कुछ सोचे, बिना हिचके नरेशने स्वीकृति सूचित कर दी। 'श्रीचरण आवश्यक निर्देश करें । महर्षिजनोंको आमन्त्रित करनेकी धृष्टता करूँ भी तो क्या किसी नरपतिका निमन्त्रण वे वीतराग तपोधन स्वीकार करेंगे ? दूसरी कोई कठिनाई तो ज्ञात नहीं होती ।'

सत्ययुगका काल नहीं था । त्रेता प्रारम्भ हो गया था । पृथ्वीपर केवल मनुष्य ही नहीं थे । उपदेवताओंकी अनेक जातियाँ भी थीं पृथ्वीपर—दानव, राक्षस, यक्ष, किन्नर, नाग, वानर, रीछ आदि । ये सब उपजातियाँ जन्मसिद्ध, अतर्क्य शक्तिशाली और उनमें-से अनेक सुरासुरजयी, महामायावी । अश्वमेधका अर्थ है—सम्पूर्ण पृथ्वीके नरेशोंको विजित करके उनसे प्रभुत्व-स्वीकृतिरूप कर प्राप्त करना और अम्बरीष इस अर्थको न जानते हों, ऐसी बात तो नहीं है । किंतु उनको तो अश्वमेध कर

लेना एक सामान्य हवन-जैसा लगता है। इसी सामान्य भावनासे स्वीकृति दे दी उन्होंने। उन्हें कठिनाई एक ही दीखती है—'महर्षिगण कदाचित् उनका आमन्त्रण स्वीकार न करें।'

'ऐसा कोई ऋषि नहीं हैं जो नाभाग-नन्दनके आमन्त्रणका अनादर करनेका साहस करे।' वसिष्ठजी भरितकण्ठ बोले—'महाभागवतके अन्नसे परिपूत होनेकी इच्छा सुर भी करते हैं। आपका दर्शन एवं संलाप तापसोंकी तपस्याका फल है; किंतु आपका विनय उचित है। ऋषियोंको मैं आमंत्रित करूँगा और वे आमन्त्रण पाते ही प्रस्थान करेंगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।'

'मुझे तो श्रीहरिकी इस महती अर्चाका श्रेय मिलना है!' अम्बरीषके नेत्रोंमें अश्रु आ गये। शरीर पुलकित हो गया। गद्गद कण्ठ कह रहे थे—'प्रभु ही आपके रूपमें स्वयं पधारे हैं। ऋषिगणको आमन्त्रित कर दें। समय एवं आवश्यक सामग्रीका आदेश दें। यज्ञीय अश्व अलभ्य नहीं हैं। श्यामकर्ण अश्वोंकी तो एक विशद संख्या अपने-आप एकत्र हो गयी है। अब देखता हूँ कि प्रभुने ये अश्व अपनी अर्चनाके लिए इस जनको दिये हैं।'

महर्षि वसिष्ठ भी एक क्षण अपने यजमानका मुख देखते रह गये। वे एक ही अश्वमेधयज्ञकी बात कहने आये थे। उन्हें इसीमें संदेह लगता था कि अम्बरीष इस विशाल कार्यको करना भी चाहेंगे या नहीं। लेकिन वे तो

कह रहे हैं कि उनकी अश्वशालामें जितने श्यामकर्ण अश्व हैं, उतनी बार अश्वमेधयज्ञ उन्हें करना है–अनवरत करना है। श्रीहरिकी अर्चा है यह ; तो उसमें आलस्य कैसा ?

महर्षि भृगु तथा अंगिरा अध्वर्यु बनकर बैठेंगे तो यज्ञशालाकी ओर दृष्टि उठानेका साहस भी किसी विघ्न-देवताको नहीं होगा। इस सम्बन्धमें चिन्ताका कोई कारण नहीं है। रक्षा तथा विघ्न-वारण सर्वत्र न की जा सके, ऐसी बात भी नहीं हैं। कोई एक ऋषिकुमार भी रुष्ट हो जाय तो दण्डधर यमके पद भी काँपने लगते हैं ; किंतु यज्ञकी एक मर्यादा है। यज्ञशालाकी सीमाके बाहर विघ्नकर्ताका प्रतीकार स्वयं यजमानके पराक्रमको ही करना चाहिए। इसमें भी दीक्षित यजमान शस्त्र ग्रहण नहीं कर सकता।

'यज्ञमें अध्वर्युकी अर्चा तो आवश्यक है ; किंतु ऋषि पूजनीय होकर पधारेंगे। वे सचिन्त क्यों हों, कहीं भी ?' अम्बरीषने सरलतापूर्वक कह दिया—'सर्वत्र सबकी रक्षा तो 'श्रीहरिका नाम' करता है। उस अनन्त करुणार्णवकी उपस्थितिमें शिशुपर कहीं कोई विघ्न आवे, इसकी आशङ्का ही कहाँ है ?'

'कहीं कोई आशङ्का नहीं राजन् !' सहसा महर्षि वसिष्ठका स्वर अत्यन्त गम्भीर हो गया। 'तुम-जैसे नामनिष्ठ भगवद्विश्वासीके लिए कहीं कोई आशङ्का नहीं। तुम्हारे कार्यमें अवरोध उपस्थित करनेकी शक्ति कभी किसीमें हो नहीं सकती।'

महर्षिने तत्काल महायज्ञके लिए आवश्यक निर्देश सचिव-सेवकोंको देने प्रारम्भ कर दिये।

× × ×

'महाराज अम्बरीष अश्वमेधयज्ञ करने जा रहे हैं!' समाचार तो प्रसारित होना ही था। इस समाचारने साधुशील, सात्त्विक नरेशोंको हर्षित किया। 'हमारे सौभाग्यका उदय हुआ। उन महाभागवतके पदोंमें प्रणत होकर सुर भी अपना जीवन सार्थक मानते हैं। उनके सम्राट् होनेपर उनका चरणाभिवादन हमारा स्वत्व हो जायगा। हम उनके पार्श्वमें खड़े होनेका गौरव प्राप्त करेंगे। अन्यथा वे अतिशय विनम्र—किसीको कहाँ वे अभिवादनका अवसर देते हैं।'

'महाराज अम्बरीष अश्वमेधयज्ञ करेंगे!' एक समाचार और आया—'अमुकने उनके यज्ञीय अश्वको अवरुद्ध करनेका निश्चय कर लिया है।'

'हमारा जीवन धन्य हो जाय यदि उन महाभागकी अश्वरक्षामें देहपात हो।' बिना किसीके कहे, बिना किसी संदेशके अनेक राजधानियोंमें सेना शस्त्र-सज्ज हो गयी। अश्व उनके यहाँतक आ जाय तो आगे अश्वका अनुगमन वे स्वयं करेंगे। किंतु जब अश्व आया—अश्व-रक्षकोंके साथ एक संदेश भी आया उस साधु-सम्राट्का—'आप सब इस जनको सेवाका सौभाग्य देकर कृतार्थ करें। अश्व तो श्रीनारायणकी अर्चाका उपलक्षण मात्र है। उनकी इच्छाका प्रतीक। उसके साथ जो लोग हैं पर्याप्त हैं वे।'

'अश्वरक्षक पर्याप्त हैं ?'—भक्तश्रेष्ठ अम्बरीष कहते हैं तो पर्याप्त हैं ; किंतु थोड़ेसे रक्षक और उनके साथ भी सामान्य धनुष तथा त्रोण हैं। वे सैनिक कम लगते हैं। वे तीर्थयात्री साधु अधिक हैं। उनके पास हैं करतालें, एकतारे, जपमालिका। अश्व चलता है तो उसके पीछे सशस्त्र सावधान रक्षक नहीं चलते। चलते हैं अम्बरीषके अनुगामी—एकतारेकी झंकृति, करतालके शब्द और उच्चस्वरसे—'नारायण हरिगोविन्द !' का गान करती, नृत्य एवं कीर्तन-तन्मय मण्डली। अश्व स्थिर हो जाय तो उसके रक्षक वृक्षोंके नीचे जपमालिका लेकर बैठ जाते हैं। अश्वमेधीय दिग्विजययात्रा है यह और ऐसी अद्भुत जिसकी कल्पनातक किसीने कभी न की हो।

'अरक्षित अश्व !' साधु नरेशोंको बड़ा कष्ट होता है। सम्राट्का आदेश टाला नहीं जा सकता—उनकी वह उमङ्ग, वह सैन्यसज्जा, उन्होंने तो आदेशकी अपेक्षा भी नहीं की थी। अब अश्वको अपनी सीमातक सम्मानपूर्वक पहुँचा कर संतोष कर लेना है उन्हें ; किंतु अश्व इसी प्रकार सुरक्षित पहुँचेगा भी ?

वह तो पहुँचेगा। अम्बरीष जिसके भरोसे निश्चिन्त हो गये हैं, वह प्रमाद करना जो नहीं जानता। अश्व अयोध्यासे जिस क्षण चला, क्षीराब्धिमें शेषकी शय्यापर सिन्धुसुताको लगा, उनके आराध्यके चरण किञ्चित् काँप गये हैं। 'नाथ !' उन भुवनात्मिकाने पलकें उठायीं।

"अम्बरीषने अश्वमेधके लिए पूजित अश्वको प्रणिपात किया है। वह कहता है—'अश्वकी रक्षा तो हरिका नाम कर लेगा।' अतः देवि···" परमपुरुषने केवल अपने ऊर्ध्व दक्षिण करकी ओर दृष्टि उठायी। इन्दिराने देखा कि उसमें सदा उपस्थित रहनेवाला चक्र वहाँ नहीं है।

'अम्बरीष यज्ञ करेंगे !' रमाने मस्तक झुकाया—'उनको अपार सम्पत्ति भी तो अपेक्षित है इस सम्भारमें। महाभागवतकी सेवाका सौभाग्य मुझे भी तो मिलना चाहिए।'

परम पुरुषके अधरोंपर केवल स्मित लक्षित हुआ।

× × ×

'अम्बरीष सम्राट् बनना चाहता है। उसने बिना दिग्विजय किये ही अश्व छोड़ दिया है।' बहुतोंको अपने पौरुषका अपमान लगा—'उसने धराको पराक्रमहीन मान लिया है। अश्वके साथ थोड़े-से अनुचर हैं। समझता है कि जगती केवल कापुरुषोंसे भरी है। कोई प्रतीकार करनेवाला है ही नहीं उसका।'

'किसका कोई प्रतीकार करनेवाला नहीं है ?' दैत्य-नायक बाणासुर अपनी राजसभामें उत्तेजित हो रहा था, इतनेमें दानवेन्द्र 'मय' पहुँच गये अकस्मात् वहाँ।

'अम्बरीषका अहङ्कार सीमोल्लङ्घन कर चुका है।' बाणने क्रोधपूर्वक कहा—'उसके अश्वमेधयज्ञका समाचार आपको मिला ही होगा।'

'मुझे चरणवन्दनाके पश्चात् यह समाचार भगवान् चन्द्रमौलिने दिया है।' मय मुस्कराये। 'उन तुम्हारे नगरपालका एक सन्देश भी ले आया हूँ।'

'आप विराजें!' बाण आदरपूर्वक सिंहासनसे उठा—'भगवान् नीलकण्ठका आदेश नित्य अनुल्लङ्घनीय है।'

'अम्बरीषका अतिक्रमण करनेकी बात भी मत सोचना!' मयने आसनपर बैठते ही कहा—'भगवान् नारायण स्वयं अश्वरक्षक होते तो पिनाकपाणि तुम्हारी ओरसे युद्धमें उतर सकते थे; किंतु अम्बरीषके अश्वकी रक्षामें नियुक्त उनका सहस्रारचक्र भक्त-रक्षणमें कोई व्याघात दे तो किसीकी मर्यादा नहीं मानता। उसकी ज्वालामें त्रिलोकी तूल बन जायगी।'

'अम्बरीष···!' बाण बोल नहीं पा रहा था।

'अम्बरीषके प्रतीकारका प्रश्न नहीं है। न उसमें अहङ्कारका आना सम्भव है।' दानवेन्द्र कह रहे थे—'वह इस यज्ञको आराध्यका अर्चन मानकर प्रवृत्त हुआ है और यह कोई अन्तिम अश्व नहीं है। अम्बरीषके यज्ञीय अश्वोंका सम्मान करके तुम स्वयं विश्वनाथका भी सम्मान करोगे। विपक्षमें खड़े होनेवाले मूर्ख कम नहीं हैं विश्वमें। अश्वके यहाँ आनेसे पूर्व उनके परिणामकी सूचना तुमतक आ जायगी और महाभाग बलिका पुत्र मूर्ख नहीं बन सकता।'

सचमुच दानवेन्द्र मयका कथन अक्षरशः सत्य था। अश्व आया नहीं था अभी शोणितपुरके समीप; किंतु

समाचार बहुत पूर्व आने लगे थे—'कालारण्यमें पिशाचाधिप क्रकचने अश्वकी वल्गा पकड़ ली। कोई नहीं जानता कि हुआ क्या ; क्योंकि प्रचण्ड तेजके प्राकट्यसे ऐसा कोई नहीं था जिसके नेत्र बन्द न हो गये हों। जब क्रकचके सेवक सावधान हुए—अश्व अपने रक्षकोंके साथ पर्याप्त आगे जा चुका था और पिशाचाधिपका मस्तक पृथ्वीपर छिन्न पड़ा था। उसका सिर और धड़ दोनों इस प्रकार झुलस गये थे, जैसे तुषाग्निमें भून दिये गये हों।'

'अश्व दण्डकारण्यमें आवे, इससे पूर्व दशग्रीवका संदेश आ गया था कि उसके अनुचर अश्वको अवरुद्ध न करें। अश्व-सेवकोंको कुछ सिंहचर्म दे दिये जायँ करके रूपमें।' इस समाचारसे बाण हँसा। उसने कहा—'दानवेन्द्र मयने लगता है कि अपने जामाताको भी सावधान कर दिया था। दशग्रीव अयोध्याका शत्रु सही, समय समझता है।'

अनेक और उद्धत नरेशोंके अवसान-समाचार आये। कुछ ही मानव थे उनमें। यक्ष एक भी नहीं। किसी वानर, रीछ-नागने साहस नहीं किया। जब दानवेन्द्र मय ही अम्बरीषके सानुकूल हों—दानव कौन आड़े आता। गन्धर्व और देवता उसके नित्य सहायक हैं। केवल राक्षस, दैत्य तथा कई शापग्रस्त आसुरयोनि-प्राप्त प्राणी—सबके सम्बन्धमें एक ही बात, एक ही समाचार। उनका उद्यम अश्वकी गतिमें अवरोध उत्पन्न करनेमें असफल रहा।

एक अज्ञात प्रचण्ड ज्योति—मस्तक छिन्न हो गया और देह झुलस उठा।

'हम अश्वका स्वागत करेंगे!' दैत्येश बाणने सब सभासदोंको चौंका दिया अपने निश्चयसे—'बाण पराक्रमीसे युद्ध करता है ; किंतु भक्तिप्राण जन तो उसके बन्धु हैं। अम्बरीष प्रिय है भगवान् नीलकण्ठका। सिंहवाहिनीका वात्सल्य प्राप्त है उसे। बाण उसके अश्वको अर्घ्य देगा।'

असाधारण समाचार था यह। अयोध्या पहुँचा तो अम्बरीषने हाथ जोड़कर भूमिमें मस्तक रख दिया—'वे महाशैव, उनके लिए भगवान् नारायण कहाँ पराये हैं? उनके पिता बलिके द्वारपाल बने हैं वे श्रीहरि! यज्ञमूर्ति श्रीहरिके यज्ञीय अश्वका सत्कार यदि वे पुण्यप्राण करते हैं—उनके लिए कोई आश्चर्यकी बात तो नहीं है।'

× × ×

'शूलमुख अत्यन्त नृशंस है। पिशाच तो वह है ही, अब उग्र हो उठा है।' उस दिन महर्षि वसिष्ठके मुखपर चिन्ताके चिह्न दीखे। उन महर्षि वसिष्ठके मुखपर, जिनके मुखपर तब भी विषाद नहीं आया था, जब उनके अपने सौ पुत्र मारे गये थे।

'क्रकचका वह अनुज—वह बड़ा ही दुरात्मा है।' उग्रतेजा महा आथर्वण भृगु भी सचिन्त दीखे उस दिन। भगवान् शूलपाणिका त्रिशूल जिन्हें भयभीत नहीं कर

सका था, वे खिन्न थे। 'यज्ञशालाके समीप आनेका साहस वह नहीं करेगा, किंतु आथर्वण भृगु अध्वर्यु होकर यज्ञशालातक ही तो यजमानकी रक्षा कर सकता है।'

'अपने अग्रजके प्रति उसका अतिशय ममत्व था।' महर्षि अङ्गिराने कहा—'ककचके मारे जानेसे वह क्षुब्ध हो नहीं, उन्मत्त हो गया सुना जाता है। कोई भी अधम प्रयास उसके लिए अशक्य नहीं है।'

'यजमान यदि यज्ञशालामें ही रहें ?' महर्षि असितने एक मार्ग सुझाया।

'ऐसा यदि हो पाता' महर्षि भृगुके स्वरमें उत्साह नहीं था—'कोई आशङ्का भी है उनके लिए, वे स्वीकार ही नहीं करते और अपने आराध्यके मन्दिरकी सेवा करने वे न जायँ, ऐसा आदेश उन्हें कोई कैसे दे सकता है ?'

'अम्बरीषका शील—वे हम ब्राह्मणोंकी बात आदेशके रूपमें स्वीकार कर लेते हैं।' महर्षि वसिष्ठ अपने यजमानका स्तवन करते बोले—'अन्यथा तप, त्याग तथा भक्तिको देखते उन्हें आज्ञा देनेका अधिकार ही कहाँ है किसीको।'

'आज अकल्पनीय घटित हुआ देव।' अचानक राज-सदनके चरने आकर ऋषियोंको सुनाया—'भगवान् नारायणकी कृपासे महाराजके प्राण सुरक्षित रहे।'

'क्या हुआ ?' एक साथ कई स्वर उठे—'महाराज सकुशल हैं ? उनका मङ्गल हो।'

'वे सकुशल हैं' दूतने बताया कि भगवान्का नैवेद्य प्रस्तुत हुआ। स्वयं महारानीने प्रस्तुत किया था उसे। अवश्य ही कुछ क्षणको वे पाकशालासे अनुपस्थित रही थीं। नैवेद्य अर्पित करनेको महाराजने उठाया ही था कि पात्रमें ही पल्ली (छिपकली)-पतन हुआ।

'श्रीहरि' अनेक ऋषियोंने नामस्मरण किया।

'स्वभावत: नैवेद्यान्न विसर्जित किया गया; किंतु उसका आहार करने जाकर ग्रास लेते ही श्वानने प्राण त्याग दिये।' दूतने सूचना पूर्ण की—'महाराजके लिए किसने विष-प्रयोग किया था, इसके अन्वेषणकी आज्ञा राजकर्मचारियोंको प्राप्त नहीं हुई। महाराज कहते हैं कि यह प्रभुकी लीला है।'

'शूलमुख सक्रिय हो गया है!' महर्षि वसिष्ठके नेत्र बन्द हुए तो दो क्षणमें उन सर्वज्ञने सब कुछ जान लिया। 'हम यज्ञदीक्षित विप्र—इस समय शाप देना भी तो वर्जित है हमारे लिए।'

यज्ञ अपने समयपर चलता रहा। यज्ञीय क्रियाओंसे अवकाश मिलनेपर ऋषियोंको अपने यजमानकी चिन्ता भी हो ही जाती थी कभी-कभी; किंतु एक दिन आया—एक समाचार आया और वह चिन्ता सदाको समाप्त हो गयी।

समाचार—'महाराज अम्बरीष देव-सदनका प्रक्षालन करके यज्ञशाला आ रहे थे। वे कभी वाहन नहीं स्वीकार करते देवमन्दिर या यज्ञशाला आनेमें। कोई सेवक साथ

नहीं। चतुष्पथपर पहुँचते ही एक कृष्णवर्ण, कृशकाय, अतिदीर्घाङ्ग अमानवाकृति दौड़ती आती दीखी। पूयगन्धसे दिशाएँ भर गयीं। अनेक नगर-जन समीप थे। भीत-त्रस्त खड़े रह गये लोग। आकृति प्रचण्ड वेगसे दौड़ती आयी नरेशकी ओर।'

'पुत्तलिका-प्रयोग!' अथर्वा ऋषि चौंके—'अघोर-तन्त्रका प्रचण्डतम मारण-प्रयोग और अम्बरीषके लिए!'

'नारायण! गोविन्द!' नरेशने उस आकृतिको देखकर इतना ही कहा। उनके पदोंकी गति शिथिल भी नहीं हुई। समाचार-वाहकने बताया—'पता नहीं क्या हुआ, वह आकृति हाहाकार कर उठी। सम्पूर्ण आकृतिसे लपटें उठने लगीं और वह जिधरसे आयी थी, द्विगुणवेगसे उसी दिशामें अदृश्य हो गयी।'

'शूलमुख भस्म हो गया।' अथर्वाने बिना ध्यान किये ही कह दिया। 'जहाँ भगवन्नाम जागता है—नामाश्रयीका अपकार सोचनेवालेको समाप्त होना ही था।'

'अम्बरीष अपनी चिन्ता नहीं करता' वसिष्ठजी बोले—'करे भी क्यों? नामका आश्रय लेकर चिन्ताकी आवश्यकता भी कहाँ रह जाती है।'

यज्ञीय अश्व लौट रहा था। उसका स्वागत करनेके लिए ऋषिगणको भी सीमातक जाना था।

—ꝏ—

मन्त्र-सिद्धि

मुझे अपनी पर्वतीय यात्राके समय कुछ पन्ने देखनेको मिले थे। उस समय मैं गङ्गोत्तरी जा रहा था। भैंरवचट्टी छोटी है और गङ्गोत्तरी पहुँचनेके लिए वह अन्तिम चट्टी है। वहाँ प्रातः पहुँचा था। मध्याह्न विश्राम, भोजन करके चल देना था। इस अल्प समयमें तीन संन्यासियोंके एक यात्रीदलसे परिचय हो गया। उनमें जो सबसे वृद्ध थे, उन्होंने वे पन्ने दिखलाये थे।

उनको वे पन्ने नैपाल होकर कैलास जाते समय मुक्तिनाथमें एक नैपाली भार-वाहकसे मिले थे और उसने बताया था कि कोई भूटानी बकरी चरानेवाला कहीं पर्वतीय गुफासे उन्हें उठा लाया था। वह चरवाहा और वह नैपाली दोनों अपठित थे। वृद्ध संन्यासीने उन्हें सँभालकर रक्खा था।

पन्ने थोड़े ही थे और उनमें भी आगे-पीछेका भाग भींगकर ऐसा हो गया था कि पढ़ा नहीं जा सकता था। दैनन्दिनीके अंश वे नहीं थे; क्योंकि उनमें तिथि नहीं थी और क्रमबद्ध कुछ लिखा भी नहीं था। लेकिन लिखनेकी शैली दैनन्दिनी-जैसी थी। कभी तो वर्षों

पश्चात् उसके लेखकको लिखनेका स्मरण हुआ जान पड़ता था ।

एक बात और—मैं यात्रामें था। मुझे गङ्गोत्तरी पहुँचनेकी त्वरा थी । वे तीनों संन्यासी गङ्गोत्तरीमें मुझसे दूर ठहरे और कब नीचे लौट गये, मुझे पता नहीं । मैंने कोई प्रतिलिपि उन पन्नोंकी नहीं की। केवल स्मृतिके आधारपर ही उसका विवरण लिखने बैठा हूँ! प्रयत्न कर रहा हूँ कि उन पन्नोंका विवरण उसी ढङ्गसे और जहाँतक बन पड़े उन्हीं शब्दोंमें लिखा जाय, जैसा उन पन्नोंमें था ।

× × ×

माता-पिता बचपनमें अनाथ छोड़ गये। मुझे भीख नहीं माँगनी पड़ी, यही क्या कम है। पढ़ता मैं कहाँसे ; किंतु अपने इस स्वभावका क्या करूँ ? जो आश्रय देगा, खिलावे-पहनावेगा, वह काम लेगा ही। काम करनेमें मुझे आपत्ति नहीं है, लेकिन आश्रयदाता सिरपर बैठाकर तो रक्खेगा नहीं। वह डाँटेगा, तिरस्कार करेगा और भगवान्ने स्वभाव ऐसा दे दिया कि किसीकी आधी बात सही नहीं जाती। वे सम्बन्धी थे, बड़े थे, विद्वान् थे। उन्होंने डाँट दिया तो क्या हो गया ? समझता हूँ यह सब ; किंतु सहन जो नहीं होता। उनसे झगड़कर आया हूँ। अब वहाँ जाना तो सम्भव नहीं है।

× × ×

केवल छः पैसे पास थे। तीन दिन चने चबाकर काट दिये। अब ! गरमीके दिन हैं। कहीं वृक्षके नीचे पड़ा

रहा जा सकता है। घरके नामपर तो खँडहर भी नहीं है। करूँ क्या! रोजो-रोजगार कुछ चाहिए पेटके गड्ढेको भरनेके लिए। व्यापारके लिए पूँजी न हो तो परिचय अवश्य चाहिए। वह कहाँसे आवे? नौकरी! लेकिन अठारह वर्षके केवल साधारण हिंदी पढ़े लड़केको जो नौकरी मिलेगी—नौकरका अपमान न हो, हो सकता है? अपमान तो होगा ही। वह सहा जायगा?

एक उपाय सूझता है—किसी साधुका शिष्य बना जा सकता है यदि वहाँ न टिक सका, वहाँ भी अपमान मिला तो? भिक्षा माँगी जा सकेगी? नहीं, यह करनेकी अपेक्षा उपवास करके मर जाना सरल है।

× × ×

इधर आठ दिनसे आम खाकर आनन्दसे रहा हूँ। वृक्षोंपर चढ़ा न जाय, पत्थर न मारे जायँ तो अपने आप टपके, आँधीसे गिरे आम उठाकर ले लेनेमें कोई बगीचेका रक्षक बाधा नहीं देता। अब जबतक आमका मौसम है, पेट पालनेकी चिंता तो गयी।

कल मिला वह साधु गँजेड़ी था। उसका प्रलोभन व्यर्थ था। मैं ऐसे व्यक्तिका न शिष्य बन सकता, न उसकी सेवा कर सकता। लेकिन उसकी एक बात ठीक थी कि मन्त्रानुष्ठानके बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। सुखी, सम्मानित जीवन बितानेके लिए मन्त्र-सिद्धि मेरे लिए आवश्यक है। कौन दिखलायेगा इसका मार्ग? साधुने कुछ नाम लिये हैं, कुछ पते बतलाये हैं। मुझे उन सबके

पास भटकना तो पड़ेगा। भटके बिना कोई पारस पाता है कभी ?

× × ×

ओह ! मैं भी किस प्रपञ्चमें पड़ गया। तीन वर्षसे भटक रहा हूँ। लंबी-चौड़ी बातें बहुत बनायी जाती हैं; किंतु भीतर तथ्य कुछ नहीं है। बहुत हुआ तो थोड़ी हाथकी सफाई, कुछ ओषधियोंके प्रयोग, कुछ धोखाधड़ी। अधिकांश धूर्त हैं, कामिनी-काञ्चनके क्रीतदास और अपने नाम-रूपकी पूजाके भूखे ! और वे सिद्ध कहलाते हैं। मेरे पास क्या रक्खा है कि कोई मुझे ठगना चाहेगा। मुझे शिष्य-सेवक बनानेको अवश्य उत्सुक मिलते हैं ये लोग।

मैंने सेवा की है और सेवाने ही उनका भण्डा फोड़ा है। मैं उनके दम्भमें सम्मिलित हो जाऊँ ? छिः ! मुझे घृणा है इससे ! चोर-डाकू ही तो हैं ये सब एक प्रकारके। इनमें अनेक तो आचारहीन हैं। इनका दम्भ, इनकी कीर्ति, इनकी पूजा—लेकिन समाज तो मूर्ख है। जो बिना श्रम किये अत्यधिक लाभ चाहते हैं, वे ठगे जायँगे ही।

× × ×

'हे भगवान् !' आज प्राण बच गये, यही बहुत हुआ। और ढूँढ़ो मन्त्र-सिद्ध ! कितना प्रेम प्रदर्शन किया था इस हत्यारे कापालिकने। मैं इसकी ख्याति सुनकर इतनी दूर आसाम आया और यह जैसे उल्लाससे मिला, मिलना ही चाहिए था, उसको तो अनायास बलिपशु मिल गया था।

स्मरण करके अब भी रोमाञ्च हो आता है। मुझे अर्धरात्रिको श्मशान ले गया था वह। पता नहीं क्या-क्या पूजन-हवन करता रहा और तब एक धागेका सिरा मेरे हाथमें बाँधकर धागेको लेकर दूर कहीं अंधकारमें जा छिपा। बड़ा लम्बा धागा था। उसमें एक अण्डा, मुर्गा, बकरा और सबसे अन्तमें मैं। मैं धागेको अन्धकारमें देख नहीं पाता था; किंतु अण्डा फट्से फूटा तो चौंका। कुछ क्षण पश्चात् मुर्गा चीखकर मर गया। मैंने हाथसे धागा खोलकर झट पासके वृक्षकी जड़में बाँध दिया। मेरे वहाँसे हटते-हटते बकरा चिल्लाया और गिर पड़ा। मैं भागा—दूरसे देखा कि वह वृक्ष ऊँची लपटोंसे घिर गया है, जिसमें मैंने अपने हाथका धागा बाँधा था।

श्मशानसे भागकर यहाँ आ छिपा हूँ। रात्रिकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी यहाँसे भागनेके लिए। कान पकड़े-अब किसी तान्त्रिकके चक्करमें नहीं पड़ूँगा।

× × ×

भगवान् भी कितने दयालु हैं। मुझे कहाँ पता था इन उदार विद्वान्का। मैं तो विपन्न, क्षुधा-मूर्छित मार्गपर पड़ा था। ये कृपालु मुझे उठा लाये। तीन दिनसे इनके यहाँ टिका हूँ। मन्त्रानुष्ठानका ठीक मार्ग बतलाया है इन्होंने। इतना भटकनेके पश्चात् आज लगा है कि मैं अपने मार्गको देख सका हूँ।

ये शास्त्रज्ञ न मिलते, मुझे कहाँ पता था कि मन्त्रोंमें इतना झमेला है। अच्छा है कि मुझे अपना राशिनाम

स्मरण है। किसे कौन-सा मन्त्र जप करना चाहिये, इसमें उसकी आवश्यकता पड़ती है, यह बात मेरी कल्पनामें नहीं थी। पता नहीं इन्होंने क्या-क्या समझाया है। मन्त्रोंमें ऋणी-धनी आदि जाने कितने निर्णय आवश्यक हैं। मुझे केवल इतनेसे प्रयोजन है कि मेरे उपयुक्त मन्त्र ये निर्णय करके बतला दें।

× × ×

मैंने समझा था, उतनी सरल बात नहीं है। अङ्ग-न्यास, करन्यास, अक्षरन्यास, मातृकान्यासादि कितने तो न्यास हैं। मुद्रा है और यन्त्र-कवचादि हैं मन्त्रके साथ। फिर मन्त्रका उत्कीलन, जागरण, सप्राणीकरण है। कितने भी विस्तार हों, कितनी भी उलझन हो, करना है तो यह सब सीखना भी है। मैं सीखूँगा—समय ही तो लगेगा।

बस एक बात अटपटी है। ये श्रद्धेय स्वयं दीक्षा देना नहीं चाहते। मेरा आग्रह-अनुरोध सब व्यर्थ चला गया है। मुहूर्त इन्होंने निकाल दिया है। बिना दीक्षाके मन्त्र सप्राण नहीं होता और दीक्षा लेना है एक साधुसे। जबसे आसामके उस तान्त्रिकका सम्पर्क मिला, साधुमात्रसे मुझे घृणा हो गयी है। साधुओंसे भय लगता है। लेकिन साधुने दीक्षा देना स्वीकार कर लिया है। दूसरा कोई मार्ग दीखता नहीं है।

× × ×

आज पूरे पन्द्रह वर्ष हो चुके। मेरा अनुष्ठान क्यों फलप्रद नहीं हो रहा है? मैंने कहीं प्रमाद किया हो,

स्मरण नहीं आता। यह पर्वतीय प्रदेश पुण्यभूमि है। यहाँके ग्रामजन श्रद्धालु हैं और उनके इतने श्रमसे उपार्जित, श्रद्धार्पित आहारमें अन्नदोष भी सम्भव नहीं है। इनका श्रम ईमानदारीका यह पवित्र उपार्जन—तब दोष कहाँ है ?

मैं आठ पुरश्चरण पूरे कर चुका हूँ। त्रिकाल-स्नान, एकाहार, लगभग चौदह घण्टे प्रतिदिनकी साधना क्या थोड़ी होती है ? प्रथम पुरश्चरणके पश्चात् तो मुझे अब अपना आसन भी मध्यमें परिवर्तित नहीं करना पड़ता। मैं अभ्यस्त हो चुका हूँ स्थिर बैठे रहनेका।

शुद्ध पवित्र देश, पवित्र आहार, प्रमादरहित अनवरत साधन और कोई आचार-दोष नहीं ; किंतु मेरा मन्त्र उज्जीवित क्यों नहीं होता ? मन्त्र-देवताने अबतक मुझे दर्शन देनेकी कृपा क्यों नहीं की ? कहाँ त्रुटि है मेरे साधनमें ?

मन्त्रशास्त्र सत्य नहीं है—ऐसी बात मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता। मैं अपने मन्त्रका प्लावन, ताडन, दाहनादि सप्त संस्कार भी सम्पन्न कर चुका। अब लौटना पड़ेगा मुझे। यदि वे परमोदार विद्वान् जीवित हों—दूसरा कोई मुझे दीख नहीं पड़ता।

× × ×

बड़ा सङ्कोच हुआ यहाँ आकर। मैं इन अतिशय वृद्ध एवं विद्वान्को कैसे बतलाऊँ कि केवल केशोंकी जटा बन

जाने तथा दाढ़ी बढ़नेसे मैं उनका प्रणम्य नहीं हूँ। कितने श्रद्धालु और उदार हैं ये।

'अश्रद्धया हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः।'

आज यह सूत्र सुना दिया इन्होंने। मन्त्रमें श्रद्धा न हो—वह निश्चय फलप्रद होगा, ऐसी दृढ़ आस्था न हो तो मन्त्र अपनी शक्ति प्रकट नहीं करता; किंतु मेरी श्रद्धा तो शिथिल कभी नहीं हुई। बिना श्रद्धाके कोई दीर्घकाल तक इतना श्रम कर सकता है ?

एक बात मुझे स्वीकार है—मैं बहुत त्वरापूर्वक मन्त्रोच्चारण करता हूँ। मन्त्र-संख्या पूर्ण करनेपर मेरा ध्यान विशेष रहता है। मेरा चित्त, पता नहीं कहाँ-कहाँ जाता रहता है। स्थिर चित्तसे, स्वस्थ गतिसे, मन्त्रार्थ चिन्तनपूर्वक जप मैंने नहीं किया है।

यहाँ भी गङ्गातट है। पण्डितजीका सान्निध्य है। जनपदसे बाहर एकान्तमें एक झोंपड़ीकी व्यवस्था वे कल कर देनेको कहते हैं। अब एक पुरश्चरण यहीं करना उचित होगा।

× × ×

मुझे चिन्ता नहीं है कि दो वर्षके स्थानपर ढाई वर्ष इस पुरश्चरणमें लगे हैं। मुझसे अधिक चिन्ता तथा निराशा तो पण्डितजीको मेरी असफलतासे हुई है। वे इन ढाई वर्षोंमें मेरे संरक्षक, निरीक्षक, प्रतिपालक सभी रहे हैं। कितने खिन्न गये हैं आज वे यहाँसे। उनके वे

भरे-भरे नेत्र, कान्तिहीन मुख—बिना कुछ कहे वे यहाँसे लौट गये हैं। उनके लिए मनमें चिन्ता हो गयी है।

× ×

पण्डितजी तो यहाँसे जाकर सीधे अपने उपासना-कक्षमें बैठ गये हैं। उनका पूरा परिवार चिन्तित है। उन्होंने अन्न-जल कुछ नहीं लिया सायंकाल तक। अजस्र अश्रु झर रहे हैं उनके नेत्रोंसे। किसीकी ओर दृष्टि उठाकर वे नहीं देखते हैं। कोई संकेत नहीं किया उन्होंने मेरे वहाँ जानेपर भी।

'हे प्रभो! हे दयामय! उन वृद्धपर दया करो! मुझे इस विप्रको पीड़ा पहुँचानेके पापसे बचाओ!

× × ×

आज प्रातःकाल ही पण्डितजी आ गये थे। कितने प्रसन्न थे वे। 'आप मेरे अनुरोधको स्वीकार करके एक पुरश्चरण और कर लें!' कितना आग्रह था उनके स्वरोंमें। मैं तो निराश हो चुका था; किंतु उनका इतना आग्रह है तो दो ढाई वर्ष और सही। जीवनमें अब कुछ करना भी तो नहीं है। इतने दिनोंके अभ्यासने ऐसा बना दिया है कि जिह्वा मन्त्र-जप किये बिना मानती नहीं है। अब कोई कामना भी तो नहीं रही। मन्त्रदेवताका साक्षात्कार—लेकिन किसलिए? एक कुतूहलमात्र लगता है। मैं क्या माँगूँगा? मनमें ढूँढ़कर भी कुछ पाता नहीं हूँ।

वे कह गये हैं—'आज अच्छा दिन नहीं है। कल शेष विचार करूँगा।' आज वे श्रान्त भी बहुत थे। कल अहर्निश निर्जल व्रत किया उन्होंने। उनका वृद्ध शरीर, व्रत और रात्रि-जागरण उनको थका तो देगा ही। आज उनके लिए विश्राम आवश्यक था।

× × ×

आज पण्डितजीने एक अपरिचित तथ्य प्रकट किया है। 'मन्त्र-साधन त्रिपाद होता है। मन्त्र, मन्त्रदेवता (इष्ट) तथा गुरुमें दृढ़ श्रद्धा—इस साधनके चरण हैं। एक भी चरण भङ्ग हो तो साधन पंगु होकर असफल हो जाता है।'

मन्त्र और इष्टमें मेरी श्रद्धा कभी शिथिल नहीं हुई; किंतु मन्त्रदाता उन साधुमें मेरी श्रद्धा प्रारम्भमें ही नहीं थी। पण्डितजी कहते हैं—'गुरुका देह एवं दैहिक व्यापार दृष्टि देनेकी वस्तु नहीं। वह तो चिन्मय वपु मन्त्र-देवताका स्वरूप है। गुरु-देह तो इष्टका पीठ है। मन्त्र-दीक्षा, नादपरम्परा बीज जहाँसे प्राप्त हुआ, उस उद्गममें श्रद्धा शिथिल हो जायगी तो मन्त्रका शक्तिप्रवाह बाधित हो जायगा।'

'अब उनका शरीर तो रहा नहीं। आप उनके आश्रममें अनुष्ठान करें। उनकी पादुकाएँ वहाँ हैं। उनका पूजन प्रतिदिन करते रहें।' पण्डितजीने यह बात अपनी ओरसे नहीं कही है। उन्होंने मुझे बताया नहीं; किंतु

लगता है कि कल अपने आराध्यकक्षमें उन्हें इस आदेशका आभास हुआ है।

× × ×

वह शत-शत चन्द्रोज्ज्वल दिव्य ज्योति—अब भी उसके स्मरणसे देहका कण-कण आनन्दविभोर हो उठता है। मैं पादुका-पूजन करके प्रणत हुआ और सम्पूर्ण स्थान उस स्निग्धोज्ज्वल प्रकाशसे परिपूर्ण हो गया।

मन्त्रका वह अकल्पनीय सुधा-सङ्गीत जो उस प्रकाश-राशिसे ही झर रहा था, प्राणोंको सिंचित कर रहा था। मैंने मस्तक उठाया और कबतक मैं मुग्ध, आत्मविस्मृत देखता रहा, मुझे कुछ पता नहीं है। ज्योतिर्मय मन्त्राक्षर और उन्होंने नृत्य करते मानो एक मूर्ति बनायी। किसकी मूर्ति—कहना कठिन है। चन्द्रमौलि, गङ्गाधर, नीलकंठ, त्रिलोचन, भस्माङ्गभूषित, सर्पसज्जित मेरे मन्त्रदेवता भगवान् शिव और मेरे मन्त्रदाता जटाजूटधारी वे साधु क्षणार्धमें एक और क्षणार्धमें दूसरी मूर्तिमें वह प्रकाश परिवर्तित होता रहा।

'वरं ब्रूहि!' जब सुनायी पड़ा, मैं किञ्चित् सावधान हुआ। मैं क्या माँगता? पूरे अनुष्ठान-कालमें जो सोचने-पर मनमें नहीं आया, सहसा मुखसे निकल गया—'देव! यह शिशु अज्ञ है। जो आपको परम प्रिय हो, वही दें आप!'...........यहाँ अक्षर मिट गये हैं।

× × ×

मेरे वे परम श्रद्धेय आज नहीं रहे। श्मशानकी चिताग्निमें उनके शरीरकी आहुतिका साक्षी रहा मैं। साक्षी ही तो—मुझे इधर कोई सुख-दु:ख स्पर्श कहाँ करते हैं। मैं—पर मैं कौन ? मेरा पाञ्चभौतिक देह क्या हुआ ? यह मन्त्राक्षरोंका कण-कण घनीभाव और यह नीलसुन्दर मयूर-मुकुटी—यह आनन्दका उल्लसित सागर, किसने सोचा था कि यह वरदानमें मिला करता हैं।

मुझे अब हिमालयकी ओर जाना है। हिमालय···
इसके आगेके पृष्ठ पढ़ने योग्य स्थितिमें नहीं थे।

—+—

तीर्थ

सौम्य शान्तस्वभाव वयोवृद्ध एवं विद्वान् थे वे कथा-वाचक। बड़ा कोमल स्वर था। वे कह रहे थे—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अष्टादश पुराण भगवान् वेदव्यासकी ही रचना हैं। इसलिए उनमें सभी वचन व्यासके ही हैं, किंतु उन सबका सार, सबमें प्रधान ये दो वचन हैं–१. परोपकार सर्वश्रेष्ठ पुण्य है। और २. दूसरोंको पीड़ा देनेके समान कोई पाप नहीं है।

कथावाचक बड़ी तल्लीनतासे व्याख्या सुनानेमें लगे थे और ग्रामके सीधे-सादे श्रोता एकाग्रचित्त सुन रहे थे। सबसे पीछे एक प्रचण्डकाय, भयङ्कर-दर्शन, वज्रदेह, बड़ी दाढ़ी-मूँछोंवाला अधेड़ उम्रका पुरुष अपने मोटे लट्ठको सहारा बनाकर कब आकर खड़ा हो गया, किसीने नहीं देखा। कोई देखता भी तो दस्युप्रमुख दुर्दान्तको पहचान सके, ऐसा कोई यहाँ नहीं था। अवश्य ही दुर्दान्तका नाम आतङ्क बनकर पूरे प्रदेशमें छा चुका था।

भयानकताकी मूर्ति वज्रपुरुष दुर्दान्त, जिसने दया, नम्रता, क्षमा आदि स्वप्नमें भी नहीं सीखे, जिसके सम्मुख उसके दलके मुख्य व्यक्ति भी 'भीगी बिल्ली' बने रहते हैं, पता नहीं क्यों आया था इस ग्राममें और फिर सहज ही क्यों खड़ा हो गया था इस कथा सुनती भीड़के पीछे।

'परपीड़न सबसे बड़ा पाप' दुर्दान्तके चित्तमें एक अन्धड़ उठा—जीवन पूरा उसका इसी पापमें बीता और अब ? इस सत्तर वर्षकी अवस्थामें इस महापापसे छुटकारा पानेका मार्ग मिलेगा उसे ?

कथा समाप्त हो गयी। आरती हुई, प्रसाद बँटा और लोग एक-दो करके चले जाने लगे। वृद्ध कथावाचकने ग्रन्थको वस्त्रसे लपेट करके मस्तकसे लगाया और वे आसनसे उठे।

'पण्डितजी !' बहुत नम्र बना लेनेपर भी बड़ा कर्कश एवं उग्र स्वर था। ब्राह्मणने सामने देखा उस दण्डहस्त उग्र पुरुषको 'आपने दस्यु दुर्दान्तका नाम सुना होगा ?'

'सुना है भाई !' पीला पड़ गया वृद्ध ब्राह्मण। थरथराते कण्ठसे उसने कहा—'थोड़ेसे पैसे मिले हैं कथाकी आरतीमें। यदि तुम चाहो ·····'

'डरिये मत ! पैसे मुझे नहीं चाहिए !'

दुर्दान्त क्या करे, चेष्टा करके भी उसका निसर्ग कर्कश-स्वर कोमल नहीं होता। लेकिन वह अपनी बात कह तो देना ही चाहता है-'दुर्दान्तने पन्द्रह वर्षकी आयुसे

अबतक जब कि वह सत्तरका है, दूसरोंको पीटा, मारा, लूटा, सताया। दूसरोंको सताना ही उसका व्यवसाय, विनोद और जीवन रहा। उस-जैसे महापापीके भी उद्धारका कोई उपाय है ?'

'है ! होगा क्यों नहीं ?' वृद्ध क्षणार्धमें स्वस्थ एवं गम्भीर हो गये—'किसी एकका भी उद्धार असम्भव हो तो भगवान् फिर पतितपावन किस बातके ?'

'लेकिन मुझसे भजन-पूजन, जप-तप जो आप बतानेवाले हैं, सो कुछ नहीं होनेका है।' दस्युने स्वयं एक उपाय सुझाया—'मेरे पास सम्पत्तिका अभाव नहीं। मेरा गुप्त कोष स्वर्ण-रत्नसे भरा है। यदि वह काम दे सके…।'

'नहीं भैया !' ब्राह्मणने सिर हिला दिया।

'वह पापकी कमायी—कीचड़से कीचड़ धोया नहीं जा सकता। अपने पसीनेका उपार्जन होता तो भले कुछ काम आता। उसे तो अपने साथियोंको बाँट दो और उनको धन लेकर इस अन्यायसे अलग होनेके लिए समझा दो, यदि वे समझ सकें।'

'वे समझ जायँगे ; किंतु मैं क्या करूँ ?' दस्युके किसी जन्मके पुण्य आज जागे थे।

'तुम तीर्थयात्रा करो। दो क्षण सोचकर ब्राह्मणने कहा—'पूरे भारतके तीर्थोंका दर्शन करो। तीर्थयात्रामें पैदल चलोगे। भूख-प्यास सहोगे। तप होगा अपने-आप। नियम-संयमका पालन होगा। भगवानके श्रीविग्रहोंके

तथा संत-महापुरुषोंके दर्शन होंगे। शरीरसे ही हो सके ऐसा सुगम साधन तो तीर्थयात्रा ही है।'

'मैं पवित्र हो गया, यह मुझे कैसे पता लगेगा' दस्युने जिज्ञासा की।

'जब दूसरे दीन-दुखियोंपर चित्तमें स्वयं दया आवे।' ब्राह्मणने बतलाया 'और जब अपना अपराध-अपमान करनेवालेपर भी मनमें क्रोध न आवे, तब समझ लेना कि तुम पवित्र हो गये।'

दस्युने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ब्राह्मणको।

थक × × × ×

दस्युराज दुर्दान्तका शरीर अब भी गठा हुआ है; किंतु दुर्बल हो गया है। लाठी अब भी रखता है वह हाथमें; किंतु उसकी लाठीसे तो अब कुत्ते भी कदाचित् ही डरते हैं। सिर एवं दाढ़ी-मूँछके केश प्राय: सब श्वेत हो गये हैं? फटे, वस्त्र, नंगे बिवाई भरे पैर, उलझे केश—कोई तपस्वी लगता है देखनेमें अब दुर्दान्त। बिना माँगे कोई कुछ दे दे तो भूख मिटे अन्यथा कहीं जल पीकर वृक्ष अथवा निर्जन मन्दिरमें रात्रि बिता देता है। बहुत कम बोलता है; किंतु स्वरमें अब भी कुछ रूक्षता है।

'माता-पिता सबसे बड़े तीर्थ हैं। उनकी सेवा और उनके लिए श्राद्ध सबसे श्रेष्ठ पुण्य है।' गया में पहुँचनेपर एक तीर्थपुरोहित मिल गये दुर्दान्तको और उन्होंने इस

निर्धन यात्रीपर कृपा की। सिकतासे पिण्डका विधान ऐसे ही अकिञ्चन जनोंके लिए तो शास्त्रने किया है।

'कोई सेवा नहीं कर सका यह नीच माता-पिताकी।' फूटकर रो पड़ा आज। सम्भवतः वह पहिली बार रोया होगा।

'दुखी मत हो भाई! माता-पिता नहीं रहे; किंतु उनके ही समान गुरु, गौ और संत सजीव श्रेष्ठतम तीर्थ हैं।' तीर्थपुरोहित बोले—'और तुम्हारा यह पश्चात्ताप—पश्चात्तापसे श्रेष्ठ पाप-क्षालक तीर्थ दूसरा कोई नहीं है।'

दुर्दान्त अब दुर्दान्त कहाँ है? लोग उसे बाबाजी कहते हैं। वह अद्भुत यात्री हो गया है? गायें दीख जायँ तो घास उखाड़नेमें लगेगा और कुछ तृण प्रत्येकको देकर तब आगे बढ़ेगा। कोई भिखारी, रोगी मिल जाय तो दस-पाँच दिन ही नहीं, महीने-दो-महीने बिता देगा उसकी सेवामें। अवश्य ही वह साधु-सन्तोंके समीप टिकता नहीं। उनकी ज्ञान-चर्चा उसकी मोटी समझमें नहीं आती; किंतु बड़ी श्रद्धासे प्रणाम करता है। सुयोग मिले तो सूखी लकड़ी तोड़कर रख आता है साधुओंके पास और किन्हींके पैर भी दबाता कुछ देर बैठता है। लेकिन वह यात्री। कहीं टिकना नहीं सीखा उसने। उसकी तीर्थ-यात्रा चल रही है।

'परम तीर्थ है अपना पवित्र चित्त!' एक संत मिल गये उत्तराखण्डकी यात्रा करते समय दुर्दान्तको। कई दिनों-तक मार्गमें उनका साथ रहा। उनका आसन इसने

अपने कंधेपर लटका लिया था। वे संत कह रहे थे—'तुम्हारा चित्त तो तीर्थ हो चुका है ऐसे पवित्रहृदय परोपकारी संत-सेवी पुरुष तीर्थोंमें जाकर उन्हें भी तीर्थ बनाते हैं।'

विनम्र, तितिक्षु, क्षमामूर्ति दुर्दान्त—वह कई महीनोंसे निरन्तर भगवन्नाम लेने लगा था। श्रीबद्रीनाथके श्रीविग्रहके सम्मुख जब वह पहुँचा, उसके पैर लड़खड़ाये। वहींसे संतोंने उसका देह उठाया और अलकनन्दामें समाधि मिली उस देहको। वह तीर्थीभूत तीर्थयात्री……

तीर्थयात्रा

'भगवन् ! हमलोग आज कहाँ हैं ?' एक काषाय-वस्त्रधारी तरुणने पूछा। यात्रियोंके इस दलमें संन्यासी कोई नहीं है; किंतु तीर्थयात्री होनेके कारण सभी काषाय-वस्त्र पहनते हैं; सबके मस्तक तथा दाढ़ी-मूँछके बाल बढ़ गये हैं, नख लंबे हो गये हैं और वस्त्र मलिन हो रहे हैं, घरसे सब सम्पूर्ण केश मुण्डित कराके चले थे; किंतु केश तो घासकी भाँति बढ़ते हैं और ये ठहरे तीर्थ-यात्री, घर छोड़े इन्हें कई मास हो गये। अभी तो कई मास और लगने हैं इन्हें। तीर्थयात्रामें न क्षौर कराया जा सकता, न वस्त्र धुलवाये जा सकते और न तैल-मर्दन ही उपयुक्त है।

'भगवान्‌के मार्गमें भद्र ! तुम आकुल क्यों होते हो ? हम मार्ग भूल गये हैं; किंतु ऐसा कौन-सा मार्ग है जिसमें वह नहीं है। वह जानता है कि हम उसकी ओर चले हैं, बड़ा स्थिर स्वर, बड़ी भव्य शान्ति थी त्रिपुण्ड्रमण्डित भव्य भालपर। हाथमें लाठी और कमण्डलु, कंधेपर झोला और कटिके वस्त्रोंको समेटकर ऊपर बँधा एक वस्त्रखंड। सबसे वृद्ध होनेपर भी यात्रामें वे सबसे आगे चल रहे थे।

'बाबा ! आज हम कहाँ ठहरेंगे ?' कृषक-जैसे दीखते एक व्यक्तिने पूछा, जो सम्भवतः थक चुका था। उसकी आधी पकी मूँछोंपर धूलि जम रही है और भौंहोंके केश ललाटके बहे पसीने और धूलिसे मिलकर कीचड़में लथ-पथ-से लगते हैं, इसकी ओर उसका ध्यान नहीं था। उसके श्वासकी गति बढ़ी हुई थी। दूसरोंकी भाँति उसके पैर भी बिवाइयोंसे चिथड़े हो रहे थे और उन बिवाइयों-में-से निकली रक्तकी बूँदें धूलिमें सनकर जम गयी थीं।

'जहाँ कहीं जल मिलेगा, वहीं हम आज रात्रि-विश्राम करेंगे। तनिक पैर दबाये आओ भाई !' आगे चलनेवाले वृद्धने केवल क्षणभरको गति मन्द की और फिर वे शीघ्रतासे चल पड़े। उनकी त्वरा समझमें आने योग्य है। भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिजपर पहुँच चुके हैं। घंटेभरमें वनमें अँधेरा हो जायगा और तब आगे बढ़ना शक्य नहीं रहेगा 'रात्रिके आगमनके पूर्व एक जलस्रोत मिल जाय या सरोवर………'वृद्धके चरण बढ़ते जा रहे थे।

'हम इस वनमें ही रात्रि व्यतीत करेंगे ?' वृद्धके पीछे चलनेवाले तरुणने चारों ओर देखा। उसे स्मरण आया—चलते समय उसके दोनों पुत्र फूट-फूटकर रोये थे। दोनों पुत्रवधुएँ घूँघटके भीतर हिचकियाँ ले रही थीं और उसका नन्हा पौत्र उसकी गोदसे उतरना ही नहीं चाहता था। यह घोर कानन --आज दिनमें ही चीतेकी गन्ध मिली है। रीछ दीखा है समीपके बेरके वृक्षपर बेर खाता और वाराहयूथ आगे-आगे जा रहा है, यह बात तो

रौंदे तृणों तथा तत्काल खोदी भूमिसे सहज अनुमान की जा सकती है। इस वनमें रात्रि-विश्राम-परंतु दूसरा कोई मार्ग तो दीखता नहीं।

'भद्र ! भयका तो कोई कारण नहीं है। जिसने आह्वान किया है, वही अपने श्रीचरणोंके समीप पहुँचायेगा। वह ग्राममें है और वनमें नहीं, ऐसा क्यों सोचते हो?' आगे चलनेवाले वृद्धकी श्रद्धा अडिग थी। उनकी श्रद्धाका ही बल है, जो यह दल अबतक चला आ रहा है।

'जो कुछ था डाकुओंने ले लिया और मार पड़ी वह ऊपरसे। अब तो मृत्यु ही रही है, उसे आना है तो वह भी आ जाय!' एक यात्री कुछ स्थूल शरीर है। स्वभावतः चलनेमें उसे अधिक श्रम होता है। वह झुँझला उठा है। इधर उसके स्वभावमें चिड़चिड़ापन भी अधिक आ गया है।

'डाकू आये, यह तो हमारा ही पाप था।' आगे चलनेवाले वृद्धने तनिक रुककर पीछे देखा—'तीर्थयात्री स्वर्णमुद्रा लेकर चलेगा तो दस्यु आयेंगे ही। हमारे पास कलके लिए भी संग्रह रहे तो हम विश्वम्भरपर विश्वास कहाँ करते हैं। संग्रह न हो तो छीनने कोई क्यों आये?'

'महाराज! वैसे तो यह शरीर भी संग्रह है और वनमें उसे छीनकर पेट भरनेवाले प्राणी भी आ ही सकते हैं!' स्थूल पुरुषने व्यंग किया।

'भैया! भगवान् मल्लिकार्जुन मृत्युञ्जय हैं। उनके चरणका दर्शन करने जो चला है उसकी आयु पूरी हो

जाय मध्यमें, तो भी मृत्युको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' वृद्ध कुछ पद लौट आये और स्नेहपूर्वक उन्होंने उस पुरुषके कंधेपर हाथ रख दिया—'तीर्थयात्राका अर्थ कहीं जाकर जलमें डुबकी लगा लेना और किसी प्रतिमा मात्रके दर्शन कर लेना नहीं है। यात्राका अर्थ है तितिक्षा—कष्ट-सहिष्णुता, त्याग, भगवत्स्मरण और एकमात्र प्रभुका आश्रय। जो प्रभु श्रीशैलपर विराजमान हैं, वे ही प्रत्येक प्राणीमें, प्रत्येक वन्य पशुमें हैं। हम पर आपत्ति आती है तब, जब हम प्रमाद करते हैं, जब हम यात्राके नियम भङ्ग करके कोई सुख-सुविधाकी व्यवस्था करते हैं अथवा संग्रह करने लगते हैं। यदि हम प्रमत्त न हों तो प्रलयङ्करके आश्रितोंकी ओर रोग, शोक आदि कोई नेत्र उठाकर देख नहीं सकता।'

× × ×

बात कई शताब्दी पहलेकी है। देशमें सड़कें नहीं थीं। रेल और मोटरोंका स्वप्न भी मनुष्यने नहीं देखा था। फलतः मनुष्य आज-जैसी धोखा-धड़ी एवं छलप्रपञ्चसे भी अपरिचित था और आजके रोगोंसे भी। उसका शरीर स्वस्थ था, सुदृढ़ था और उसका मानस श्रद्धापरिपूत था।

मध्यप्रदेशके एक छोटे-से ग्रामके एक वृद्ध ब्राह्मणके मनमें लालसा जाग्रत् हुई तीर्थयात्राकी। उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और कई सहयोगी मिल गये। लगभग डेढ़ वर्ष लगा यात्राके लिए प्रस्तुत होनेमें। सभी सगे-सम्बन्धियोंसे मिल लेना था। घरकी पूरी व्यवस्था कर

देनी थी। सबसे विदा ले लेनी थी। तीर्थयात्राका अर्थ था घर न लौटनेको प्रस्तुत होकर जाना। मार्गमें वन थे— लंबे-चौड़े व्यापक अरण्य। वनोंमें हिंस्र जन्तु भरे थे और उनसे भी हिंस्र दस्यु तथा वन्य मानव मिलते थे। जब दीर्घकालतक अनिश्चित भटकना हो तो कौन कह सकता है कि कोई कब अस्वस्थ हो जायगा। तीर्थयात्री तो मृत्युको चुनौती देकर ही यात्रा प्रारम्भ करता है।

मुहूर्त निश्चित हुआ। यात्रियोंने अपने वस्त्र गैरिक कर लिये, झोले सिलवा लिये, मुण्डन कराया और हवन हुआ। अन्तमें ग्राम-परिक्रमा करके पूरे ग्रामके लोगोंने ग्रामसीमातक जाकर जयजयकार करते हुए उन्हें विदा दी।

हाथोंमें लाठियाँ और जलपात्र, कंधेपर झोले, मुण्डित मस्तक, नंगे पैर यात्रियोंका दल चल पड़ा। जहाँतक ग्राम-सीमा मिलती रही, बड़ा उत्साह रहा सबमें। प्रत्येक ग्राममें उनका स्वागत हुआ, उनकी पूजा हुई, सोल्लास उनका आतिथ्य हुआ; परन्तु वन आना था और वह आया। वनकी यात्रा चलती रही और एक दिन दस्युओं-ने उन्हें घेर लिया। बिना पूछे तड़ातड़ डंडे पड़ गये दो-दो चार-चार सबपर।

'अरे! किसींके पास कुछ हो तो दे क्यों नहीं देते।' अग्रणी वृद्धने अपने साथियोंको पुकारा। साथमें एक कुछ स्थूलकाय श्यामवर्ण वैश्य यात्री थे। उनकी धोतीमें दो

स्वर्णमुद्राएँ छिपी थीं। डाकुओंकी मार भी अधिक उनपर ही पड़ी। अन्तमें वे मुद्राएँ डाकुओंको प्राप्त हो गयीं।

'धन्यवाद बन्धुओ!' वृद्ध ब्राह्मणने दस्युओंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया—'तुम हमारे प्रभुके भेजे आये हो। यह पाप था हमारे साथ, जिससे तुमने हमें मुक्त कर दिया। आओ भाई! अब हमारी यात्रा निरुपद्रव हो गयी। अमङ्गल बहुत कम उपद्रव करके विदा हो गया।' स्थूल-काय वृद्धको उन्होंने आश्वासन दिया।

इस धमाचौकड़ीमें यात्रियोंके साथ जो मार्गदर्शक था, वह भाग चुका था। दस्यु स्वर्णमुद्राएँ लेकर ऐसे अदृश्य हुए जैसे शशकके सिरसे सींग। यात्रियोंको अब अपने अनुमानके आधारपर आगे बढ़ना था। घोर वनमें कोई क्या अनुमान करे। वे भटक गये और भटकते ही चले गये। वनके कन्दों तथा पत्तों और सरोवर या निर्झरके जलपर कई दिन काट दिये उन्होंने और तब एक दिन ऐसा आया जब मध्याह्नोत्तर चलनेपर उन्हें जल मिलना भी कठिन हो गया था।

× × ×

'हम श्रीशैलकी ही ओर जा रहे हैं?' तरुण भी अत्यन्त श्रान्त हो चुका था। उसकी श्रान्ति इतनी अधिक थी कि आगे भटकनेकी अपेक्षा वन्य पशुओं द्वारा आखेट हो जाना उसे कम भयप्रद प्रतीत होने लगा था।

'भगवान् आशुतोष जानते हैं कि हम श्रीशैल जाना चाहते हैं, इसलिए हम श्रीशैल ही जा रहे हैं और वहाँ निश्चय पहुँचेंगे।' अग्रणी वृद्धका विश्वास अलौकिक था। वैसे न वे मार्ग जानते थे और न उन्हें यही पता था कि श्रीशैल उनके सम्मुख है या पीठकी ओर।

'इस जन्ममें तो पहुँचते नहीं।' स्थूलकाय व्यक्तिके लिए चलना अब अत्यन्त कठिन हो रहा था। वह खड़ा हो गया और देखने लगा कि 'कोई बैठने योग्य वृक्षकी जड़ भी मिल जाय तो उसीपर बैठ जाय।'

'हम इसी जीवनमें पहुँचेंगे और—।' किन्तु वृद्धको अधिक बोलना नहीं पड़ा। कोई आ रहा था उनके सम्मुखकी दिशासे। सबका ध्यान आगन्तुककी ओर आकृष्ट हो गया था।

'आप सब श्रीशैलपर ही हैं।' दूरसे ही आगन्तुकने यात्रियोंकी थकावट, व्याकुलता तथा उत्सुकता समझ ली और आश्वस्त करनेके लिए बोला—'वनमें भटक जानेके कारण आप विपरीत दिशासे आये हैं। कुछ दूर आगे बढ़ते ही आपको शिखरकी ध्वजाके दर्शन होंगे।'

'भगवान् मल्लिकार्जुनकी जय!' यात्रियोंमें नवीन उत्साह आ गया। उन्हें यह पता नहीं लगा कि उनको मार्ग बताने जो कृपा करके पधारे थे, वे थे कौन और उत्साहके इन क्षणोंमें सहसा किधर अदृश्य हो गये।

तीर्थवास

'देव ! लगभग बीस वर्ष हो गये मुझे आपके इस पवित्र धाममें निवास करते ; किंतु तीर्थकी प्राप्ति मुझे नहीं हुई ! मैं तीर्थवासी नहीं बन सका !' कोई दूसरा यह बात सुनता तो उपहास करता उनका ; किंतु अवकाश किसे था उनकी बात सुननेका । यात्री आते थे— सैकड़ों यात्री आते थे और गरुड़स्तम्भको प्रणाम करके, उससे मस्तक लगाकर आगे बढ़ जाते थे श्रीजगदीशकी ओर । किसे पड़ी थी यह देखनेकी कि एक सफेद दाढ़ी-वाला, गौरवर्ण, वलीपलित वृद्ध, पता नहीं कबसे, गरुड़-स्तम्भके एक ओर ऐसे बैठा है, जैसे गिर पड़ा हो और फिर उठनेमें असमर्थ हो गया हो । उसके नेत्रोंकी बूंदें नीचेके सुचिक्कन पाषाणको धो रही थीं और उसके हिलते अधरोंसे जो अस्फुट शब्द निकलते थे, उन्हें या तो वह सुनता था या सुनते थे एक साथ उसके हृदयमें और उससे पर्याप्त दूर आराध्य पीठपर विराजमान श्रीजगन्नाथजी ।

'आप जगन्नाथ हैं और मैं आपके जगत्का ही एक प्राणी हूँ । आपका हूँ और आपके द्वारपर आ पड़ा हूँ ।' बार-बार वृद्धका कण्ठ भर आता था । बार-बार वह

रुकता था, हिचकियाँ लेता और फिर-फिर मस्तक उठाकर बड़े कातर नेत्रोंसे आगे आराध्य पीठपर स्थित देवताकी ओर देखता था। 'आप मुझे मुक्त कर देंगे यह जानता हूँ—मुक्त होना कहाँ चाहता हूँ मैं। मुक्त तो वह श्वान भी हो जाता है, जिसपर पुरीकी पावन रज उड़कर पड़ जाती है। मैं आपके धाममें आया था तीर्थवास करने और वह आपके श्रीचरणोंमें आकर भी मुझे प्राप्त नहीं हुआ।'

'तुम तीर्थमें ही हो भद्र!' जगद्गुरु शङ्कराचार्य पधारे थे श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करने। मुझे स्मरण नहीं है कि पुरीके शांकर पीठपर आदि शङ्कराचार्यके पश्चात् कितनी पीढ़ियाँ तबतक बीत चुकी थीं, किंतु थे वे पुरी पीठके श्रीशङ्कराचार्य और जगद्गुरु पीठ तो एक महान् परम्परा सदासे रखता आया है। आत्मनिष्ठ, शास्त्रपारदर्शी, साधनसम्पन्न लोकोत्तर महापुरुष पाये हैं संसारने इस पावन पोठसे। उस समयके शङ्कराचार्यजी उस वृद्धकी अपेक्षा तरुण थे; किंतु उनमें जो विवेक, वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा शास्त्रीय ज्ञानका अद्भुत तेज था—वृद्धने अवकाश नहीं पाया उठनेका, उसने घूमकर जगद्गुरुके चरणोंपर मस्तक रख दिया और उसके नेत्रजलसे आचार्यके श्रीचरण प्रक्षालित हो गये।

'प्रभो! इस नीलाचल-धामकी भुवनपावनतामें मुझे कोई सन्देह नहीं है।' कुछ क्षणमें वृद्धने आश्वस्त होकर दोनों हाथ जोड़ लिये। 'किंतु मैं इतना अधम हूँ कि बीस

वर्ष यहाँ रहनेपर भी श्रीजगदीशकी कृपाका अनुभव नहीं कर सका। तीर्थवास मुझे अब भी प्राप्त नहीं हुआ।'

'यह तीर्थमें है, पुरीकी पावनतामें विश्वास रखता है, फिर ?' जगद्गुरुके पीछे जो अनुगत वर्ग था—था वह भी शास्त्रज्ञ विद्वानोंका वर्ग, किंतु उनमेंसे कइयोंके मनमें यह प्रश्न उठा।

'भावुकताके आधिक्यने मस्तिष्कको कुछ अव्यवस्थित कर दिया है।' एक युवकने, जिनके शरीरपर गैरिक वस्त्र थे और जो सम्भवतः अभी अध्ययन करते होंगे, अपने साथके अन्तेवासीसे धीरेसे कहा।

'भद्र ! मैं श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करके शीघ्र लौट रहा हूँ।' जगद्गुरुने किसीकी ओर ध्यान नहीं दिया। लगता था कि आज वे इस वृद्धपर कृपा करने ही मन्दिर पधारे हैं। वृद्धके कन्धेपर उनका करुण करकमल रखा था। 'तुम मेरे साथ आज आश्रम चलोगे ?'

आचार्यचरण उत्तरकी अपेक्षा किये बिना आगे बढ़ गये। वृद्ध स्थिर नेत्रोंसे उनके आगे बढ़ते चरणोंकी ओर देखता खड़ा रहा।

× × ×

'मैं पिताका कर्तव्य पूरा कर चुका, अब तुमलोगोंको पुत्रका कर्तव्य पूरा करना चाहिए।' ठाकुर समरसिंह आदर्श पिता रहे हैं, आदर्श जमींदार हैं और आदर्श क्षत्रिय हैं। पुत्रोंको उन्होंने शिक्षा दी, केवल पुस्तकोंकी ही नहीं, व्यवहारका भी विद्वान बनाया और अपनी नैतिक

दृढ़ता उनमें लानेमें सफल हुए। पुत्र अब युवक हो गये हैं। दोनों पुत्रोंका विवाह हो चुका है और जमींदारी उन्होंने सम्हाल ली है। प्रजाके लिए यदि समरसिंह सदा स्नेहमय पिता रहे हैं तो उनके पुत्र सगे भाई हैं, परंतु अब अमरसिंह पुरी जाकर तीर्थवास करना चाहते हैं। उन्होंने निश्चय कर लिया और उनका निश्चय जीवनमें कभी परिवर्तित हुआ हो तब तो आज हो। पुत्रों, पुत्रवधुओं और प्रजाके सैकड़ों लोगोंको जो व्यथा आज हो रही है— उनका यह देवता-जैसा पिता क्या सचमुच इतना निष्ठुर है कि उनको छोड़कर चला ही जायगा ?

'पिताको पुत्रोंका तबतक रक्षण-शिक्षण और पालन करना चाहिए जबतक पुत्र स्वयं समर्थ न हो जायँ और पुत्रोंको समर्थ हो जानेपर पिताको अवकाश दे देना चाहिए कि वह भगवान्‌की सेवामें लगे।' समरसिंह स्थिर स्वरमें कहे जा रहे थे—'मैं अपना यह कर्तव्य कर चुका जो तुम्हारे प्रति था। अब मुझे परमपिताके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने दो।'

'आप यहाँ रहकर भजन करें तो ·····' पुत्र अपने पिताको जानते थे, वे साहस नहीं कर सकते थे यह बात कहनेका। एक प्रजाजनने—एक युवकने किया था यह प्रस्ताव। यद्यपि सभाके हृदय यही प्रस्ताव करना चाहते थे ; किंतु वाणी अवरुद्ध हो रही थी।

'तुम बच्चे हो न' समरसिंह उस युवककी ओर देखकर हँस पड़े 'पुरी—श्रीनीलाचलधामकी पावन महिमा अभी

समझ नहीं पाते हो तुम और यह भी नहीं समझ पाते कि यहाँ रहनेके लिए जितनी शक्ति चाहिए हृदयमें, वह इस क्षुद्र प्राणीमें नहीं है। मैं श्रीनीलाचलनाथके श्रीचरणोंमें गिर जाना चाहता हूँ।'

बात बहुत बढ़ाने-जैसी है नहीं। प्रजाजनोंको, परिजनोंको, पुत्रोंको दुःख तो होना था ही; किंतु समरसिंह अपने निश्चयपर दृढ़ रहे। वे घर छोड़कर पुरी आ गये। अवश्य ही उन्होंने पुत्रोंका यह अनुरोध स्वीकार कर लिया था कि शरीर-निर्वाहका व्यय वे पुत्रोंसे ले लिया करेंगे और पुरीमें उनके निवासके लिए समुद्रकी ओर बस्तीसे दूर एक छोटी कुटिया भी उनके पुत्रोंने ही बनवा दी थी। बहुत अनुरोध करनेपर भी कोई सेवक साथ उन्होंने नहीं लिया।

प्रातः समुद्र-स्नान करके समरसिंह श्रीजगन्नाथजीके मन्दिर चले आते थे और रात्रिमें प्रभुके शयन होनेतक वहीं रहते थे। लौटते समय निश्चित पुजारी उन्हें महाप्रसाद दे देता था और इसके लिए उसे समरसिंहके पुत्र मासिक दक्षिणा दे दिया करते थे। कुटियापर लौटकर भगवत्प्रसाद लेते थे समरसिंह।

भगवद्धाममें निवास, भगवन्नामका जप, केवल एक बार भगवत्प्रसाद-ग्रहण—किसी दूसरेसे कुछ बोलनेका कदाचित् ही अवकाश मिलता था समरसिंहको; परन्तु वे बोलते बहुत थे, जप कम करते थे और बोलते अधिक थे यह कहना अधिक उपयुक्त होगा। बोलते थे—प्रायः

बोलते रहते थे गरुड़स्तम्भके पास बैठे-बैठे। रोते थे और बोलते थे—प्रार्थना करते थे, उलाहना देते थे, अनुरोध करते थे—परन्तु उनका यह सब केवल जगन्नाथके प्रति था।

'तुम कृपण हो गये हो ! मुझ एक प्राणीको तीर्थवास देनेमें तुम्हारा क्या बिगड़ा जाता है ? मेरे लिए ही तुम इतने कठोर क्यों हो गये ?' पता नहीं क्या-क्या कहते रहते थे समरसिंह। लेकिन उनका विषय एक ही था—तीर्थवास चाहिए उन्हें।

× × ×

'जो दूसरेको अपनी संनिधिमात्रसे पावन कर दे वह तीर्थ।' समरसिंहकी यह परिभाषा उनकी अपनी नहीं है। तीर्थकी यह परिभाषा तो सभी शास्त्र करते हैं; किंतु समरसिंहकी मान्यता है कि जबतक हृदयमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहङ्कार आदिका लेश भी है, तीर्थमें रहकर भी तीर्थकी प्राप्ति नहीं हुई। यह समरसिंहकी परिभाषा है, आप भी इसे मान लें यह मेरा कोई आग्रह नहीं; किंतु वह भला आदमी तो कहता है—'देवता हुए बिना देवता नहीं मिलता। तीर्थस्वरूप बने बिना तीर्थकी प्राप्ति नहीं होती। केवल शरीर तीर्थमें चला गया या रहा, यह तीर्थवास नहीं है। तीर्थस्वरूप श्रीजगन्नाथजीके श्रीचरण हृदयमें प्रकट हो जायँतो तीर्थवास प्राप्त हुआ।'

एक अड़ियल ठाकुरने एक भारी भरकम परिभाषा बना ली और वह उसपर अड़ा है। श्रीजगन्नाथजी तो हैं ही ऐसे कि उनके साथ उलटी-सीधी, सबकी सभी हठ निभ जाती है ; किंतु जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य इस बूढ़े क्षत्रियको अपने सिंहासनके पास इतने आदरसे बैठाकर उसकी बातें इतनी एकाग्रतासे सुन रहे हैं, यह क्या कम आश्चर्यकी बात है -

'ठाकुर, तुममें काम, क्रोध, मोह आदि कोई दोष है कहाँ ?' एक बार समस्त विद्वद्वर्ग चौंका। उनके सम्मुख जो यह पागल-सा बूढ़ा बैठा है वह वासनाशून्य—क्षीण-कल्मष है ? जगद्गुरु तो कह रहे हैं—'तुम तीर्थमें हो, कबसे तीर्थवासी हो।'

'मुझे अभी भूला नहीं कि मैं क्षत्रिय हूँ, मैं जमींदार था। कोई अपमान करे तो कदाचित् मैं सहन नहीं कर सकूँगा और मेरे हृदयमें श्रीजगन्नाथजीके दिव्यचरण…'

'नित्य विराजमान हैं वे दिव्यचरण तुम्हारे हृदयमें। यह दूसरी बात कि उनकी उपलब्धि पिपासाको बढ़ाती रहती है।' आचार्यचरण वात्सल्यपूर्ण स्वरमें कह रहे थे—'समरसिंह ! संयम, सदाचार, तितिक्षा, इन्द्रिय एवं मनका दमन तथा सतत भगवत्स्मरण जिसमें है, उसीने तीर्थको पाया है। उसीका तीर्थवास सच्चा तीर्थवास है, यह तुम ठीक कहते हो और इसीलिए तुम तीर्थवास कर रहे हो। तुम तीर्थमें हो और तीर्थ तुममें है। तुम्हारा दर्शन दूसरोंको पवित्र करता है।'

'देव ! प्रभो !' वृद्ध जैसे हाहाकार कर उठा। असह्य हो गया उसके लिए अपनी प्रशंसाको सुनना।

'श्रीजगन्नाथजी तुम्हारे हैं न ?' जगद्गुरुने प्रसङ्ग मोड़ लिया।

'नहीं क्यों होंगे।' समरसिंहके स्वरमें क्षत्रियका ओज आया—'वे जगत्के नाथ हैं और मैं उनके ही जगत्का हूँ—मेरे नाथ तो वे हैं ही।'

'वे तुम्हारे हैं—इसीलिए तुम्हें तीर्थ नित्य प्राप्त हैं।' जगद्गुरुकी व्याख्या समरसिंहसे भी अद्भुत थी—'भगवद्-विश्वास है तो तीर्थ सर्वत्र प्राप्त हैं और उन तीर्थरूपमें विश्वास न हो तो प्राप्त तीर्थ भी अप्राप्त ही है।'
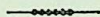
पाठ

मैं आज यह विवरण लिखने बैठा हूँ। क्यों बैठा हूँ? इसका एक ही उत्तर है कि यह उस महाशक्तिके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनका एक प्रयत्न है जिसने मुझे इस योग्य बनाया है कि मैं आज यह विवरण लिख सकता हूँ। अन्यथा इस विवरणको लिखनेका कोई प्रयोजन मुझे दीख नहीं रहा है—न अपने लिए, न किसी औरके लिए।

एक ग्रामीण कृषकका पुत्र। आप उसे अशिक्षित भले न कहें, सुशिक्षित वह नहीं था। अवश्य ही जन-गणना अधिकारी शिक्षावाले कोष्ठकमें उसके नामके सम्मुख भी कुछ लिख सकते थे, मात्र इतना ही। कोई प्रमाणपत्र उसके समीप किसी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेका नहीं। मातृभाषाकी प्रारम्भिक शिक्षाको शिक्षा कहनेसे आपका संतोष होता हो तो आप संतुष्ट अवश्य हो सकते हैं।

बात आजकी नहीं है। वैसे आज भी कङ्गालकी संतति न शिक्षा पानेकी अधिकारिणी है और न ठीक रीतिसे चिकित्सा प्राप्त करनेकी। रसरहित शिलाओंके मध्य भी कुछ तृण-तरुओंको बढ़ते-पनपते मैंने देखा है। विधाताका विधान जिसे जीवन-पोषण देना चाहता है,

झंझाके प्रचण्ड थपेड़े भी उसका उन्मूलन नहीं कर पाते। केवल वृक्ष तृण-वीरुधोंके लिए ही यह सत्य नहीं है, यह सत्य सभी प्रणियोंके लिए है। वह स्वयं इस सत्यके प्रतीकरूपमें ही जीवित था। अन्यथा निर्धन, एकाकी; अनाश्रित और उसपर भी जिसने झुकना न सीखा हो, संसारके निष्ठुर थपेड़े उसे अवश्य तोड़ फेंकते।

धन नहीं, स्वजन नहीं, उपार्जन नहीं और गर्व—भले कोई उसे आत्माभिमान कह ले, अन्यका आश्रय लेने नहीं दे तो क्या होगा? वही सब जो ऐसी अवस्थामें सम्भाव्य है, हुआ।

तुम मुझे नहीं पढ़ाते? अच्छी बात! मैं तुम्हें पढ़ाकर दिखा दूंगा!' इस चर्चामें जो उद्धत गर्व है, उसे आप स्पष्ट देख सकते हैं।

पढ़नेकी बहुत रुचि। किंतु साधन तो नहीं ही थे, समझ भी नहीं थी—यही कहना चाहिये; क्योंकि कोई प्रारम्भिक शिक्षा भी प्राप्त न किये हो और उस विषयका उच्चतम ग्रन्थ ही पढ़ना चाहे तो उसमें समझ है, ऐसा आप मानेंगे?

उसने महाग्रन्थ पढ़नेकी अभिलाषा की थी। एक विद्वान्से मित्रता थी। कहना यह चाहिये कि वे उसपर अनुकम्पा करते थे। स्वाभाविक था कि पढ़ानेकी प्रार्थनापर विद्वान् यही सम्मति देते—'शिक्षाका प्रारंभ व्याकरणकी सामान्य पुस्तकसे कीजिये! धीरे-धीरे कुछ समयके श्रमके पश्चात् यह ग्रन्थ भी आप पढ़ सकेंगे।'

'मुझे तो यही पढ़ना है।' कोई बालक ऐसा हठ करे, आपके समीप क्या उपाय है ? किसी विज्ञानकी आठवीं कक्षाके विद्यार्थीको आप परमाणु-विज्ञान अथवा आइन्स्टीन सिद्धान्त पढ़ा सकेंगे ?

'अभी तो यह ग्रन्थ मैं नहीं पढ़ा पाऊँगा। इस उत्तरमें कहीं अशिष्टता, उपेक्षा दीखती है आपको ? कहा तो यह जाना चाहिये था कि 'तुम अभी इसे पढ़ने-समझने योग्य नहीं हो।'

उसका उद्धत 'अहं' वह अत्यन्त शिष्ट अस्वीकृति भी सहन करनेको प्रस्तुत नहीं था। उसकी उत्तेजना—एक साधन एवं समझसे रहितकी उत्तेजनाका क्या अर्थ है ? उसकी उत्तेजनापर लोग हँस दें, इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है।

× × ×

बात समाप्त नहीं हुई। बात समाप्त ही हो गयी होती तो यह विवरण ही क्यों लिखा जाता। सामान्यतः असमर्थ, साधनहीनकी उत्तेजनापर लोग हँस देते हैं और बात समाप्त हो जाती है। वह कुछ दूसरी धातुसे बना है। कुछ ऐसी धातुसे, जिससे वे पौधे बनते हैं जो मरुस्थलमें चट्टानोंके—तपती चट्टानोंके मध्य उगकर भी बढ़ते ही जाते हैं। जो लूमें झुलसते नहीं और अंधड़में टूटते नहीं।

'मैं तुम्हें इसका पाठ सुनाऊँगा। तुम मुझे इसे पढ़ा देना।' किसीसे पूछना-सीखना तो उसके स्वभावमें ही नहीं। मनमानी विधि और उससे मनमाना फल

चाहना— सर्वथा असङ्गत बात है ; किंतु किसीका यह स्वभाव ही हो गया हो तो आप उसका क्या कर लेंगे ? आप उसकी सफलता-असफलताके कोई ठेकेदार हैं ?

कहींसे वह एक छोटा-सा चित्र ले आया था। चित्र श्रीकृष्णका था और वह उस चित्रमें जो चित्रित था, उससे—निश्चय ही उससे एक अनुबन्ध कर रहा था। चित्रसे अनुबन्ध नहीं किया जा सकता, इतनी समझ उसमें थी। अब आप पूछें कि चित्रमें जो चित्रित था, उसने ऐसे किसी अनुबन्धकी इच्छा की थी ? उसे ऐसे किसी सौदेकी आवश्यकता थी ? उसने स्वीकृति दी इस अनुबन्धको ? इस सबकी उसने आवश्यकता ही नहीं समझी। उसने अनुबन्ध सुनाया और मान लिया कि वह पक्का हो गया।

आप बुद्धिमान् हैं, विद्वान् हैं, शास्त्रज्ञ हैं। आपसे कोई ऐसा अनुबन्ध करने आये तो उसे फटकारकर भगा देंगे, यह ठीक है। आप ऐसे अनुबन्धकी एकपक्षीयताके कारण उसे सर्वथा अनुचित मान लें, यह योग्य ही है। किंतु आप कदाचित् नहीं जानते कि गोपका बालक इतना चतुर, विद्वान् नहीं हुआ करता। बाबा नन्दका लड़का इस सम्बन्धमें बहुत भोला है। उससे कोई अनुबन्ध—नहीं, वह कहाँ मिलेगा कि आप उससे अनुबन्ध करेंगे। उसको देखा किसने है कि उसका वास्तविक चित्र या मूर्ति बनेगी। किसी चित्र, किसी मूर्तिको आपका मन मान ले कि वह उसका चित्र या मूर्ति है—वह झट 'हाँ' कर देगा। आप कहिये—'यह तू है।' वह यशोदाका

लाड़ला इतना सरल है कि झट कह देगा—'हाँ यह मैं हूँ।'

अनुबन्धकी बात—उस भोले बालकसे अनुबन्ध कर लेना क्या कठिन है। किसी चित्र-मूर्तिके साथ आप अनुबन्ध कर लें। आपका मन पक्का तो अनुबन्ध पक्का।

'यह अनुबन्ध मैंने किया तेरे साथ। स्वीकार है तुझे ?

यह भी पूछनेकी आवश्यकता कहाँ है। आपने स्वीकार किया तो उसे लगता है कि उसको स्वीकार करना ही पड़ेगा। अस्वीकार करना उसे केवल तब आता है, जब अस्वीकृतिमें आपका सिर हिलता है। कहा न कि वह बालक है—बहुत भोला गोप-बालक, अतः उसे तो केवल अनुकृति आती है। वह आपका अनुकरणमात्र करता है।

उसने उस चित्रमें जो चित्रित था, उससे अनुबन्ध कर लिया। उसने अनुबन्ध कर लिया। अतः अनुबन्ध तो हो गया। पक्का था वह, अतः अनुबन्ध भी पक्का। उसे आवश्यकता थी पढ़नेकी, पाठ सुननेवालेको आवश्यकता थी सुननेकी या नहीं, यह उसने नहीं सोचा। क्या यह सोचना अनावश्यक नहीं है ?

महाग्रन्थका पाठ—एक अध्यायको सामान्य स्वरसे, शीघ्रगतिसे चार-छः मिनटमें पढ़कर सुना देना उसने प्रारम्भ किया उस दिनसे। बस, पढ़कर सुना देना—सुना देनेका ही तो उसने अनुबन्ध किया था। पढ़ा देनेका काम

तो पाठ सुननेवालेका था। दूसरेके कर्तव्यका भार वह अपने सिर क्यों ले? उसने पाठ किया और ग्रन्थ बन्द करके धर दिया। वह अर्थ समझकर पाठ करे, पीछे टीका, व्याख्या देखे, पीछे समझनेका प्रयत्न करे—क्यों करे यह सब? यही सब वह करे तो पढ़ानेवाला क्या करेगा? उसने यह सब कभी नहीं किया।

आपको कोई ऐसा छात्र मिल जाय तो? डरिये मत! ऐसा छात्र अपने योग्य शिक्षक ढूंढ़ लेता है। जैसा गर्विष्ठ, अनुत्तरदायी छात्र, वैसा ही निपट सरल शिक्षक। वह पाठ तो अब भी सुनाता हो जाता है।

'मैं पाठ कहाँ करता हूँ। एक बार किसीने उससे उसके नित्य पाठका प्रयोजन-फल तथा पाठ करनेकी विधि पूछी तो बोला—'मुझे पाठ करनेकी विधि क्यों चाहिए? मैं तो पाठ सुनाता हूँ। पाठकी कोई विधि है तो सुनने-वाला उसे कर लिया करेगा।'

उसके पाठ सुननेवालेके लिए कोई विधि कहीं आपको मिली है?

× × ×

पाठ स्थिर बैठकर, बिना सिर या शरीर हिलाये स्पष्टोच्चारणपूर्वक किया जाना चाहिये। मौन पाठ, गाकर पाठ, सिर हिलाकर पाठ, अर्थ न समझकर पाठ, अशुद्ध पाठ, आतुरतापूर्वक या उपेक्षासे पाठ—ये दोष हैं पाठ करनेके। ये बातें उसे बहुत पीछे ज्ञात हुईं। वैसे वह पाठ सुनाता है, अतः स्थिर बैठकर, स्पष्ट उच्चारण करके

सुनाता है। मौन पाठ करेगा तो सुनायेगा कैसे ? गायन उसे आता नहीं और पाठ सुनाना है तो शुद्ध पढ़ना चाहिए। अवश्य अर्थ समझनेकी उसने चिन्ता नहीं की। अर्थ पाठ सुननेवाला समझ ले, यह क्या पर्याप्त नहीं है ?

'मेरे आचार्यजी यह ग्रन्थ पढ़ा नहीं पाते। आप क्या पढ़ा देंगे मुझे ?' एक दिन एक विद्यार्थी आ गया उसके समीप। उच्च कक्षाका एक ग्रन्थ था उसके हाथमें। पता नहीं क्यों विद्यार्थीने उसे विद्वान् समझ लिया था।

'कलसे आइये। पढ़ा दूंगा।' बिना हिचके उसने विद्यार्थीको समय दे दिया। जो ग्रन्थ आचार्य नहीं पढ़ा पाते, उसे वह कैसे पढ़ा देगा ? उसने तो उस देवभाषाका कभी श्रीगणेश भी नहीं जाना। किंतु यह सब उसने सोचना आवश्यक नहीं समझा।

'मैं तुझे वर्षभरसे पाठ सुना रहा हूँ और तू मुझे इतना भी नहीं पढ़ा सका कि यह जरा-सी पुस्तक मैं इसे पढ़ा दूँ ?' बड़ी झल्लाहट—बड़ा क्रोध अन्तरमें उबला।

जिसे परीक्षा देना था, वह विद्यार्थी तो पढ़ने आता ही। पुस्तक लेकर वह समयसे कुछ पहले आ धमका था। पुस्तक हाथमें ली और खोलकर देखी। कुछ समझमें नहीं आया तो वह झल्ला उठा। नेत्र बन्द करके वह मन-ही-मन बिगड़ा—यह कोई बात है कि वह वर्ष भरसे एक अनुबन्धका दृढ़तासे पालन कर रहा है और दूसरा उसके अपने अंशका पालन न करे ! उसका क्रोध अनुचित था, यह कोई कह कैसे देगा।

'अरे !' उसने दो क्षणमें नेत्र खोले। उसी झल्लाहटमें ही उस पुस्तकके खुले पृष्ठपर दृष्टि गयी और वह चौंक गया। उसने जिससे अनुबन्ध किया है, उसने अपने कर्तव्य-पालनमें तो कहीं भी शिथिलता नहीं की है। व्यर्थ ही उसपर रुष्ट हो रहा था। यह पुस्तक तो वह बड़ी सरलतासे पढ़ा सकता है। पुस्तक पढ़ानेमें जुट गया वह। मत कहिये कि उसने पढ़ा नहीं। उसको पढ़ानेवाला अद्भुत है, केवल यह आप कह सकते हैं।

× × ×

'रामायण, गीता, भागवत तो कल्पवृक्ष हैं !' एक महापुरुषने एक बार कहा—'ये ग्रन्थ नहीं हैं। ये तो भगवान्के साक्षात् स्वरूप हैं ! उनका वाङ्मय श्रीविग्रह इन रूपोंमें है। जो जिस इच्छासे इनका आश्रय लेता है, उसकी वह इच्छा इनसे पूर्ण होती है।'

इस विवरणके संदर्भमें महापुरुषका यह वाक्य सहज स्मरण हो आया। कल्पवृक्षका आश्रय—अच्छा, उसने कल्पवृक्षका आश्रय लिया तो आपके लिए भी तो वह कल्पवृक्ष अलभ्य नहीं है।

श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र' की अन्य पुस्तकें

भगवान वासुदेव—(श्रीकृष्णका मथुरा चरित)—
डिमाई आकार, पृष्ठ ४०२, सजिल्द, मूल्य १०)५०

श्रीद्वारिकाधीश—(श्रीकृष्णका द्वारिका-चरित)—
डिमाई आकार, पृष्ठ ४००, सजिल्द, मूल्य १०)५०

शिव-चरित—डिमाई आ०, पृष्ठ ४२८, सजिल्द, मूल्य ११)२५

शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा—
डिमाई आकार, पृष्ठ २१२, सजिल्द, मूल्य ७)५०

हमारी संस्कृति–डिमाई आ०, पृ० २६०, सजिल्द, मूल्य [illegible]

कर्म-रहस्य—डिमाई आकार, पृष्ठ १८४, मूल्य [illegible]

आञ्जनेयकी आत्मकथा—(श्रीहनुमान-चरित)—
डिमाई आकार, पृष्ठ ३१२, सजिल्द, मूल्य [illegible]

श्यामका स्वभाव— पाकेट आकार, पृष्ठ ९६, मूल्य [illegible]

हमारे धर्मग्रन्थ— पाकेट आकार, पृष्ठ ६७, मूल्य [illegible]

हिन्दुओंके तीर्थ-स्थान—पाकेट आ०, पृष्ठ २७४, मूल्य [illegible]

शिव-स्मरण— पाकेट आकार, पृष्ठ ८५, मूल्य १)२५

हमारे अवतार एवं देवी-देवता—
पाकेट आकार, पृष्ठ १०८, मूल्य १)५०

सांस्कृतिक कहानियाँ प्रत्येक भाग—
पाकेट आकार, पृष्ठ १६०, मूल्य २)००

अन्य प्रकाशन—

दो आध्यात्मिक महाविभूतियोंके प्रेरक प्रसंग—
पाकेट आकार, पृष्ठ १८८, मूल्य २)५०

प्रेसमें—

१. सांस्कृतिक कहानियाँ—भाग ४

प्राप्ति-स्थान—

प्रकाशन विभाग, श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ,
मथुरा-१ (उ० प्र०)